विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ८ अगस्त २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ८

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ५/-**

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर

(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यो तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एव विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत् ।।४०।।

अन्वयः – अविकलानि तानि इन्द्रियाणि, तत् एव नाम, अप्रतिहता सा बुद्धिः, तत् एव वचनम्, अर्थोष्मणा विरहितः सः अपि पुरुषः क्षणेन अन्यः एव भवति, इति एतत् विचित्रम् ।

भावार्थ – यह एक बड़ी विचित्र बात है कि व्यक्ति की वे ही सशक्त (नेत्र आदि) इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है, वही सक्षम बुद्धि है, वही वाणी है; परन्तु धन की गर्मी निकल जाने अर्थात् निर्धन हो जाने पर, वह क्षण भर में एक दूसरा ही व्यक्ति हो जाता है ।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ।।४१।।

अन्वयः – यस्य (गृहे) वित्तम् अस्ति, सः नरः कुलीनः, सः पण्डितः, सः श्रुतवान्, (सः) गुणज्ञः, सः एव वक्ता, सः च दर्शनीयः (भवति)। सर्वे गुणाः कांचनम् आश्रयन्ति ।

भावार्थ – जिस व्यक्ति के पास धन होता है, उसी को दुनिया के लोग उच्च कुल का, उसी को विद्वान्, उसी को शास्त्रज्ञ, उसी को गुणग्राही, उसी को वक्ता और उसी को सुन्दर मानते है; क्योंकि दुनिया के सारे गुण कांचन अर्थात् धन में ही निवास करते हैं ।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

रामकृष्ण नामामृत पी रे मन मेरे ।
राग-द्वेष, पाप-ताप, खेद मिटें तेरे ।।

लोभ मोह क्षय करने, आये हैं प्रभु जग में,
काटने प्रणत जन के जनम-मरण फेरे ।।

करुणा रवि उदयमान, आलोकित हृदय-प्राण,
भाग रहे जीवन से, रात के लुटेरे ।।

दूर करो तृष्णा सब, पार करो भव से अब,
आस लगा बैठे हैं, चिर दिन के चेरे ।।

– २ –

(मधुवन्ती–त्रिताल)

हे रामकृष्ण करुणानिधान ।
हो व्याप रहे तुम कण कण में,
आनन्द रूप मंगलविधान ।।

भव के पद-सम्पद विपद भरे,
तव पद-सम्पद धर जीव तरे,
हर लो मन की माया-ममता,
दो मुझको निर्मल भक्ति-ज्ञान ।।

हूँ जनम जनम का मैं प्यासा,
यदि कृपाबिन्दु दो थोड़ा-सा,
फेरो मुझ पर निज स्नेहदृष्टि,
भर जाएँ मेरे हृदय-प्राण ।।

आया हूँ लम्बा पथ चलकर,
विषयों के विष से जल-भुनकर,
पूरण कर दो मेरी आशा,
देकर चरणों का सन्निधान ।।

दुखदाई है जग की माया,
सुखमय भासित मिथ्या छाया,
विस्मृत कर सारे नाम-रूप,
प्रतिपल होवे तव विमल ध्यान ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (४)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका की भूमिका तथा अनुवाद का क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

पूरी जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लो

अपनी वर्तमान अवस्था के लिए हमी जिम्मेदार हैं और हम जो कुछ होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमी में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मो का फल है, तो यह भी निश्चित है कि हम भविष्य मे जो कुछ होंगे, वह हमारे वर्तमान कर्मों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है; अत: यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायँ।[३०]

हमे वही मिलता है, जिसके हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड़ दें और समझ लें कि हम पर आयी हुई कोई भी आपत्ति ऐसी नहीं है, जिसके पात्र हम नहीं थे। कभी बेकार की चोट नहीं पड़ी; ऐसी कोई बुराई नहीं आयी, जो हमने स्वयं ही न बुलायी हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिये। तुम आत्मनिरीक्षण करो, तो पाओगे कि ऐसी एक भी चोट तुम्हें नही लगी, जो तुमने स्वयं न की हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने, और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गम्भीर बना देगा और साथ ही इस विश्लेषण से आशा की ध्वनि आयेगी, 'बाह्य जगत् पर मेरा नियंत्रण भले ही न हो, पर जो मेरे अन्दर है, जो मेरे अधिक निकट है, उस अपने अन्तर्जगत् पर मेरा अधिकार है। यदि असफलता के लिये इन दोनों के संयोग की जरूरत होती हो, यदि चोट लगने के लिये इन दोनों का इकट्ठे होना जरूरी हो, तो मेरे अधिकार मे जो दुनिया है, उसे मैं न छोड़ूँगा, फिर देखूँगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? यदि मैं स्वयं पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊं, तो कभी चोट कभी न लग सकेगी।[३१]

जब सारा दायित्व हमारे अपने कन्धों पर डाल दिया जाता है, उस समय हम जितनी अच्छी तरह से कार्य करते हैं, उतनी और किसी अवस्था में नहीं करते। मैं तुम लोगो से पूछता हूँ, यदि एक नन्हें बच्चे को तुम्हारे हाथ में सौंप दूँ, तो तुम उसके प्रति कैसा व्यवहार करोगे? उस क्षण के लिये तुम्हारा सारा जीवन बदल जायेगा। तुम्हारा स्वभाव कैसा भी क्यो न हो, कम-से-कम उन क्षणो के लिये तुम पूर्णत: नि:स्वार्थी बन जाओगे। यदि तुम पर उत्तरदायित्व डाल दिया जाय, तो तुम्हारी सारी पाप-प्रवृत्तियाँ दूर हो जायेंगी, तुम्हारा सारा चरित्र बदल जायेगा। इसी प्रकार, जब सारे उत्तरदायित्व का बोझ हम पर डाल दिया जाता है, तब हम अपने सर्वोच्च भाव मे आरोहण करते हैं। जब हमारे सारे दोष और किसी के माथे नहीं मढ़े जाते, जब शैतान या भगवान किसी को भी हम अपने दोषों के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराते, तभी हम सर्वोच्च भाव में पहुँचते हैं। अपने भाग्य के लिये मैं उत्तरदायी हूँ। मैं स्वयं अपने शुभाशुभ दोनों का कर्त्ता हूँ।[३२]

नि:सन्देह यह जीवन एक कठोर सत्य है। यद्यपि यह वज्र के समान दुर्भेद्य प्रतीत होता है, तथापि प्राणपण से इसके बाहर जाने का प्रयत्न करो; आत्मा उसकी अपेक्षा अनन्तगुनी शक्तिमान है! वेदान्त तुम्हारे कर्मफल के लिये देवताओं को उत्तरदायी नहीं बनाता; वह कहता है, तुम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम अपने ही कर्म से अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के फल भोग रहे हो, तुम अपने हाथों से अपनी आँखें मूँदकर कहते हो – अन्धकार है। हाथ हटा लो – प्रकाश दीख पड़ेगा। तुम ज्योतिस्वरूप हो, तुम पहले से ही सिद्ध हो।[३३]

जो लोग अपने दु:खों या कष्टों के लिये दूसरों को दोषी बनाते हैं (और दु:ख की बात यह है कि ऐसे लोगों की संख्या दिनो-दिन बढ़ती जा रही है), वे साधारणतया अभागे और दुर्बल-मस्तिष्क हैं। अपने कर्मदोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पड़े हैं और अब वे दूसरों को दोषी ठहरा रहे हैं। पर इससे उनकी दशा में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता – उनका कोई भला नहीं होता, वरन् दूसरों पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल हो जाते हैं। अत: अपने दोष के लिये तुम किसी को उत्तरदायी न समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने की चेष्टा करो, सब कामों के लिये अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अत: उठो, साहसी बनो, वीरता दिखाओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो – याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अत: इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथो अपना भविष्य गढ़ डालो। **गतस्य शोचना नास्ति** – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा है। सदैव स्मरण रखो कि तुम्हारा हर विचार, हर कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद

रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे बुरे विचार और बुरे कार्य शेरो की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक मे है, उसी प्रकार भले विचार और भले कार्य भी हजारो देवताओ की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिये तैयार है।[३४]

कर्म कैसे करें ?

कार्य के निमित्त ही कार्य। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे नर-रत्न होते है, जो केवल कर्म के लिये ही कर्म करते है। वे नाम, यश अथवा स्वर्ग की भी परवाह नही करते। वे केवल इसलिए कर्म करते है कि उससे कुछ कल्याण होगा, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो और भी उच्चतर उद्देश्य लेकर गरीबो के प्रति भलाई तथा मनुष्य जाति की सहायता करने के लिये अग्रसर होते है, क्योकि वे शुभ मे विश्वास करते हैं और उससे प्रेम करते हैं। नाम तथा यश के लिये किया गया कार्य बहुधा शीघ्र फलित नही होता। ये चीजें हमें उस समय प्राप्त होती है, जब हम वृद्ध हो जाते है और जीवन की आखिरी घड़ियाँ गिनते रहते है। यदि कोई मनुष्य नि:स्वार्थ भाव से कार्य करे, तो क्या उसे कोई फलप्राप्ति नही होती? असल में तभी तो उसे सर्वोच्च फल की प्राप्ति होती है। और सच पूछा जाय, तो नि:स्वार्थता अधिक फलदायी होती है, केवल लोगो में इसका अभ्यास करने का धैर्य नही होता। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह अधिक लाभदायक है। प्रेम, सत्य तथा नि:स्वार्थता नैतिकता सम्बन्धी आलंकारिक वर्णन मात्र नही हैं, वरन् शक्ति की महान् अभिव्यक्ति होने के कारण वे हमारे सर्वोच्च आदर्श हैं।[३५]

वेदान्त का आदर्श रूप जो सच्चा कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ संयुक्त है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति मे वह शान्ति नष्ट नही होती – चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नही होता। हम लोग भी बहुत कुछ देखने-सुनने के बाद यही समझ पाये हैं कि कार्य करने के लिये इस प्रकार की मनोवृत्ति ही सबसे अधिक उपयोगी होती है।

लोगो ने अनेको बार मुझसे यह प्रश्न किया है कि हम कार्य के लिये जो एक प्रकार का आवेग अनुभव करते हैं, यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे? मै भी बहुत दिन पहले यही सोचता था, किन्तु जैसे जैसे मेरी आयु बढ़ रही है, जितना अनुभव बढ़ता जा रहा है, उतना ही मै देखता हूँ कि यह सत्य नही है। कार्य के भीतर आवेग जितना ही कम रहता है, वह उतना ही उत्कृष्ट होता है। हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं, उतना ही हम लोगों का आत्म-कल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह से कर पाते है। जब हम लोग भावनाओ के अधीन हो जाते हैं, तब अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, अपने स्नायु-समूह को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं, किन्तु काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप में परिणत हो जाना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र में पर्यवसित होकर क्षय हो जाती है। जब मन अत्यन्त शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हम लोगो की समस्त शक्ति सत्कार्य में व्यय होती हैं। यदि कभी तुम जगत् के महान् कार्यकुशल व्यक्तियों की जीवनी पढ़ो, तो देखोगे कि वे अद्‌भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भंग नही कर पाती थी। इसलिये जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या अन्य किसी आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नही कर पाता, अपने को चूर-चूर कर डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नही कर पाता। केवल शान्त, क्षमाशील स्थिरचित्त व्यक्ति ही सबसे अधिक काम कर पाता है।[३६]

यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायँ। सम्भव है, तुम कहो, "कर्म करने की शैली जानने से क्या लाभ? संसार में हर व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से कर्म तो करता ही है।" परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शक्तियों का निरर्थक क्षय भी कोई चीज होती है। गीता का कथन है, 'कर्मयोग का अर्थ है – कुशलता से अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना।' कर्मानुष्ठान की विधि ठीक-ठीक जानने से मनुष्य को श्रेष्ठतम फल प्राप्त हो सकता हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त कर्मो का उद्देश्य है, मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना – आत्मा को जाग्रत कर देना। हर व्यक्ति के भीतर शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। भिन्न भिन्न कर्म इन महान् शक्तियों को जाग्रत तथा बाहर प्रकट कर देने के लिए झटको के सदृश हैं।[३७]

निष्क्रियता का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्रियाशीलता का अर्थ है – प्रतिरोध। मानसिक तथा शारीरिक समस्त दोषो का प्रतिरोध करो, जब तुम इस प्रतिरोध में सफल होगे, तभी शान्ति प्राप्त होगी। यह कहना बड़ा सरल है कि 'किसी से घृणा मत करो, किसी बुराई का प्रतिरोध मत करो', परन्तु हम जानते हैं कि इसे कार्यरूप में परिणत करना क्या है। जब सारे समाज की आँखे हमारी ओर लगी हों, तो हम अप्रतिरोध का प्रदर्शन भले ही करें, परन्तु हमारे हृदय में वह सदैव कुरेदती रहती है। अप्रतिरोध का शान्तिजन्य अभाव हमें निरन्तर खलता है; ऐसा लगता है कि प्रतिरोध करना ही अच्छा है। यदि तुम्हें धन की इच्छा है और साथ ही तुम्हें यह भी मालूम है कि जो मनुष्य धन का इच्छुक है, उसे संसार दुष्ट कहता है, तो सम्भव है, तुम धन प्राप्त करने के लिये प्राणपण से चेष्टा करने का साहस न करो, परन्तु फिर भी तुम्हारा मन दिन-रात धन के पीछे दौड़ता रहेगा। यह तो सरासर मिथ्याचार है और इससे कोई लाभ नहीं होता। संसार में कूद पड़ो और जब तुम इसके समस्त दु:ख-सुखों को भोग लोगे, तभी त्याग आयेगा – तभी शान्ति प्राप्त होगी।[३८]

जो सदैव इसी चिन्ता में पड़ा रहता है कि भविष्य में क्या होगा, उससे कोई कार्य नही हो सकता। इसलिए जिस बात को तुम सत्य समझते हो, उसे अभी कर डालो; भविष्य में क्या होगा या नही होगा, इसकी चिन्ता करने की क्या जरूरत? जीवन की अवधि इतनी अल्प है; यदि इसमे भी तुम किसी कार्य के लाभ-हानि का विचार करते रहो, तो क्या उस कार्य का होना सम्भव है? फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। जैसा उचित होगा, वह वैसा करेगा। तुम्हें इस विषय में क्या करना है? तुम उसकी चिन्ता छोड़कर अपना काम किये जाओ।[३९]

कर्मफल मे आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भुनभुनाता है। अनासक्त व्यक्ति के लिए सारे कर्तव्य समान रूप से अच्छे है। उसके लिये तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रियपरायणता को नष्ट करके आत्मा को मुक्त कर देनेवाले शक्तिशाली साधन है। हम सब अपने को बहुत बड़ा मानते है। प्रकृति ही सदैव कड़े नियम से हमारे कर्मो के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है। और इसलिये अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिये भले ही अनिच्छुक हो, फिर भी वस्तुत: हमारे कर्मफल के अनुसार ही हमारे कर्मफल निर्धारित होंगे। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। भुनभुनाते रहनेवाले व्यक्ति के लिये सभी कर्तव्य नीरस होते है। उसे कभी किसी चीज से सन्तोष नही होता और फलस्वरूप उसका जीवन दूभर हो उठना और उसकी असफलता स्वाभाविक ही है। हमें चाहिये कि हम काम करते रहे, हमारा जो भी कर्तव्य हो, उसे करते रहें, अपना कन्धा सदैव काम से भिड़ाये रखें। तभी निश्चित रूप से हमे प्रकाश की उपलब्धि होगी।[४०]

वेदान्त कहता है, इसी प्रकार कार्य करो – सभी वस्तुओं मे ईश्वर-बुद्धि करो, समझो कि ईश्वर सबमें है, अपने जीवन को भी ईश्वर से अनुप्राणित, यहाँ तक कि ईश्वररूप ही समझो। यह जान लो कि यही हमारा एकमात्र कर्तव्य है, यही हमारे जानने कि एकमात्र वस्तु है। ईश्वर सभी वस्तुओं में विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिये और कहाँ जाओगे? प्रत्येक कार्य मे, प्रत्येक भाव मे, प्रत्येक विचार में वह पहले से ही विद्यमान हैं। इस प्रकार समझकर हमें कार्य करते जाना होगा। यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं। इस प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लिप्त न कर सकेगा। फिर कर्मफल तुम्हारा कोई अनिष्ट नही कर पायेगा। हम देख चुके हैं कि हम जो कुछ दु:ख-कष्ट भोगते है, उसका कारण है – ये व्यर्थ की वासनाएँ। परन्तु जब ये वासनाएँ ईश्वरबुद्धि के द्वारा पवित्र भाव धारण कर लेती है, ईश्वर स्वरूप हो जाती हैं, तब उनके आने से फिर कोई अनिष्ट नही होता। जिन्होने इस रहस्य को नही जाना है, जब तक इसे नही जान लेते, तब तक उन्हे इसी आसुरी जगत् में रहना पड़ेगा। लोग नहीं जानते कि यहाँ उनके चारों ओर सर्वत्र कैसी आनन्द की खान पड़ी हुई है; वे अभी तक उसे खोज नही पाये। आसुरी जगत् का अर्थ क्या है? वेदान्त कहता है – अज्ञान।[४१]

मन की रुचि के अनुसार काम मिलने पर अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति भी उसे कर सकता है। सब कामों को जो अपने मन के अनुकूल बना देता है, वही बुद्धिमान है। कोई भी काम छोटा नही है, संसार में सब कुछ वट-बीज की तरह है, सरसो जैसा क्षुद्र दिखायी देने पर भी अति विशाल वट-वृक्ष उसके अन्दर विद्यमान है। बुद्धिमान वही है जो ऐसा देख पाता है और सब कामो को महान् बनाने में समर्थ है।[४२]

किसी भी प्रकार के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जो व्यक्ति कोई छोटा या नीचा काम करता है, वह केवल इसी कारण ऊँचा काम करनेवाले की अपेक्षा छोटा या हीन नही हो जाता। मनुष्य की परख उसके कर्तव्य की उच्चता या हीनता की कसौटी पर नहीं होनी चाहिये, वरन् यह देखना चाहिये कि वह कर्तव्यों का पालन किस ढंग से करता है। मनुष्य की सच्ची पहचान तो अपने कर्तव्यों को करने की उसकी शक्ति तथा शैली मे होती है। एक मोची, जो कि कम-से-कम समय मे सुन्दर और मजबूत जूतों की जोड़ी तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में उस प्राध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो अपने जीवन भर प्रतिदिन थोथी बकवास ही किया करता है।

प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है और कर्तव्य-निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है; बद्ध जीवों की भ्रान्त, अज्ञान-तिमिराच्छन्न आत्माओं को ज्ञान और मुक्ति दिलाने में यह कर्तव्य-निष्ठा निश्चय ही बड़ी सहायक है।

जो कर्तव्य हमारे निकटतम है, जो कार्य अभी हमारे हाथों में है, उसको सुचारु रूप से सम्पन्न करने से हमारी कार्यशक्ति बढ़ती है; और इस प्रकार क्रमश: अपनी शक्ति बढ़ाते हुये हम एक ऐसी अवस्था को भी प्राप्त कर सकते हैं, जब हमे जीवन और समाज के सबसे ईप्सित एवं प्रतिष्ठित कार्यो को करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।[४३]

स्वामी के समान कर्म करो

शिक्षा का समस्त सार यही है कि तुम्हें एक 'स्वामी' के समान कार्य करना चाहिये, न कि एक 'दास' की तरह। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु एक दास के समान मत करो। सब लोग किस प्रकार कर्म कर रहे हैं, क्या यह तुम नहीं देखते? इच्छा होने पर भी कोई आराम नही कर सकता! ९९% लोग तो दासो का तरह कार्य करते रहते है और उसका फल होता है – दु:ख, ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण होते हैं। मुक्त भाव से कर्म करो! प्रेमसहित कर्म करो! 'प्रेम' शब्द का अर्थ

समझना बहुत कठिन है। बिना स्वाधीनता के प्रेम आ ही नही सकता। दास मे सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं। यदि तुम एक गुलाम मोल ले लो और उसे जंजीरों से बाँधकर उससे अपने लिये काम कराओ, तो वह कष्ट उठाकर किसी प्रकार काम करेगा अवश्य, पर उसमे किसी प्रकार का प्रेम नहीं रहेगा। इसी तरह जब हम संसार के लिये दासवत् कर्म करते हैं, तो उसके प्रति हमारा प्रेम नही रहता और इसीलिये वह सच्चा कर्म नही हो सकता। हम अपने बन्धु-बान्धवों के लिये जो कर्म करते है, यहाँ तक कि हम अपने स्वयं के लिये भी जो कर्म करते है, उनके बारे मे भी ठीक यही बात है। स्वार्थ के लिये किया कार्य दास का कार्य है। और कोई कार्य स्वार्थ के लिये है अथवा नहीं, इसकी पहचान यह है कि प्रेम के साथ किया गया प्रत्येक कार्य आनन्दायक होता है। सच्चे प्रेम के साथ किया हुआ कोई भी कार्य ऐसा नही है, जिसके फलस्वरूप शान्ति और आनन्द न प्राप्त हो।[४४]

जो मनुष्य प्रेम और स्वतन्त्रता से अभिभूत होकर कार्य करता है, उसे फल की कोई चिन्ता नहीं रहती। परन्तु दास कोड़ों की मार चाहता है और नौकर अपना वेतन। ऐसा ही समस्त जीवन में है। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक जीवन को ले लो। सार्वजनिक सभा में भाषण देनेवाला या तो कुछ तालियाँ चाहता है या विरोध-प्रदर्शन ही। यदि तुम इन दोनों में से उसे कुछ भी न दो, तो वह हतोत्साहित हो जाता है, क्योंकि उसे इनकी जरूरत है। यही दास की तरह काम करना कहलाता है। ऐसी परिस्थितियों में, बदले में कुछ चाहना हमारी दूसरी प्रकृति बन जाती है। इसके बाद है नौकर का काम, जो किसी वेतन की अपेक्षा करता है; 'मै तुम्हें यह देता हूँ और तुम मुझे वह दो'। 'मै कार्य के लिये ही कार्य करता हूँ' – यह कहना तो बड़ा सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना अत्यन्त कठिन।[४५]

हम लोगों को कार्य अवश्यमेव करना पड़ेगा। व्यर्थ की वासनाओं के चक्र में पड़कर इधर-उधर भटकते फिरनेवाले साधारण जन कार्य के सम्बन्ध में भला क्या जानें? जो व्यक्ति भावनाओ और इन्द्रियों से परिचालित है, वह भला कार्य को क्या समझे? कार्य वही कर सकता है, जो किसी वासना के द्वारा, किसी स्वार्थपरता के द्वारा परिचालित नही होता। वे ही कार्य करते है, जिनमें कोई कामना नही है। वे ही कार्य करते है, जो बदले में किसी लाभ की आशा नहीं रखते।[४६]

❖ (क्रमशः) ❖

प्यारा भारतवर्ष

जितेन्द्र कुमार तिवारी

हमारा प्यारा भारतवर्ष। आँख का तारा भारतवर्ष॥

यहीं उपजा वेदों का ज्ञान,
यहीं उपनिषदों का आख्यान।
यही है ऋषि-मुनियों की भूमि,
त्याग-तप जिनका रहा महान्।
सभ्यता-संस्कृति का विस्तार, ज्ञान की धारा भारतवर्ष॥

यही है महावीर का देश,
अहिंसा का देने सन्देश।
यहीं आये थे गौतम बुद्ध,
मिटाने सारे जग का क्लेश।
आद्य शंकर का पावन कर्म, न भूला अब भी भारतवर्ष॥

यहीं पर खीस्त और इस्लाम
रहें अल्ला के संग में राम।
वेद बाइबिल औ पाक कुरान,
धर्म का देते हैं पैगाम।
सभी पर बरसाता है प्रेम, दुलारा सबका भारतवर्ष॥

यहीं पर रामकृष्ण से देव,
ज्ञान की मूर्ति रहे स्वयमेव।
हृदय में भरा विश्व का क्षेम,
हुए जो परमहंस अतएव।
विवेकानन्द उन्हीं के अंश, दिव्य औ न्यारा भारतवर्ष॥

सारदा-माँ का आशीर्वाद,
सभी को देता सुख-आह्लाद।
ज्ञान की गरिमा, तप औ त्याग,
रहेगी दुनिया भर को याद।
नहीं है कभी रहा असहाय, ईश का प्यारा भारतवर्ष॥

अलौकिक भारत में है शक्ति,
मनुजता से रखता अनुरक्ति।
नहीं कट्टरता से है प्रेम,
मानता सब धर्मों से मुक्ति।
कभी भी संघर्षों के बीच, नहीं है हारा भारतवर्ष॥

---

३०. विवेकानन्द साहित्य, ३/७ ३१. वही, ९/१८१ ३२. वही, २/१८९ ३३. वही, २/१४० ३४. वही, २/१२०-१ ३५. वही, ३/८ ३६. वही, ८/५ ३७. वही, ३/७ ३८. वही, ३/१४-१५ ३९. वही, ६/१५ ४०. वही, ३/४५-६ ४१. वही, २/१५४ ४२. वही, ६/३५१ ४३. वही, ९/१८३-४ ४४. वही, ३/३३ ४५. वही, ९/१८४-५ ४६. वही, २/१५२-३

मानस-रोगों से मुक्ति (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख अन्तिम अर्थात् पैंतालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

अब साधक के जीवन में आनेवाला इसका दूसरा पक्ष भी है। भरत जी जैसे महान् सन्त भी साधक के जीवन में आते हैं और वे हनुमान जी के समान उसकी मूर्छा से चैतन्य करके शीघ्रता से भगवान के पास पहुँचा देते हैं। हनुमान जी जब औषधि लेकर आये, तो प्रभु ने गद्गद होकर उन्हें हृदय से लगाकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। बोले – हनुमान, तुमने जैसी सेवा की, वैसी किसी ने नहीं की। तुम न होते, तो आज लक्ष्मण को स्वस्थ कौन करता। हनुमान जी ने भगवान से कहा – प्रभो, आपने मुझे लक्ष्मण जी की दवा लाने भेजा था, या मेरी दवा कराने? मैं तो यहाँ से यही समझकर गया था कि मैं लक्ष्मण जी के लिए दवा लाने जा रहा हूँ। पर लौटते समय मुझे पता चला कि नहीं, दवा की जरूरत तो मुझे ही है। प्रभु बोले – तुम्हें कौन-सी दवा की जरूरत पड़ गयी? किसने तुम्हें दवा दी, स्वस्थ किया? बोले – महाराज, जिस वैद्य की, जिन भरत जी की आप निरन्तर यह कहकर प्रशंसा करते रहते हैं – जिनके दर्शन से भवरोग नष्ट हो जाते हैं –

भरत दरस मेटा भवरोगू।

सचमुच आपने बड़ी कृपा की, मुझे उन महान् सन्त का दर्शन हुआ। जब मैं औषधि लेकर आ रहा था तो मुझे लग रहा था कि मैं लक्ष्मण जी के लिये औषधि लेकर जा रहा हूँ, पर अयोध्या पहुँचते ही मैं समझ गया कि अरे, मैं तो स्वयं ही अस्वस्थ हूँ। यही सजगता है साधक की – अपने ही मन की कमियों को देखना। हनुमान जी तो महानतम सन्त हैं, उनमें तो कमी का प्रश्न ही नहीं आता, पर हनुमान जी में, भरत जी में, लक्ष्मण जी में भी आप यह सजगता पायेंगे। ये इतने बड़े बड़े पात्र अपने दोषों के प्रति बड़े सजग हैं और स्वयं अपनी अतीव पैनी दृष्टि से अपने दोषों को पहचान लेते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि श्री भरत, लक्ष्मण जी और हनुमान जी जैसे महान् साधक भक्त भी अपने में कोई-न-कोई कमी पाते हैं, तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि हममें कोई कमी न हो।

यदि हम भी सावधानी से देखें तो हमें अपने में कोई-न-कोई कमी अवश्य दिखाई देगी। जो दृष्टि हमें चाहिये उसे हम रामायण के द्वारा पा चुके हैं। हनुमान जी ने जब भगवान को बताया कि भरत जी ने मुझ पर बाण चलाया, तो प्रभु बोले – नहीं हनुमान, भरत को क्षमा करना, उसे भ्रम हो गया, उसने तुम्हें कोई राक्षस समझकर बाण चला दिया। हनुमान जी ने कहा – नहीं महाराज, भ्रम उन्हें नहीं, मुझे हुआ था, जिसे उन्होंने दूर किया। मुझे भ्रम हो रहा था कि यदि मैं न होता तो वैद्य को कौन ले आता, औषधि कौन ले आता? पर जब मुझे भरत जी का बाण लगा और मैं नीचे गिरा तो पर्वत आकाश में ही रुका रहा, वह मेरे साथ नहीं गिरा। बस तत्काल मेरा भ्रम टूट गया। पर्वत को यदि मैंने उठा रखा होता, तो मेरे साथ ही वह भी गिर पड़ा होता। भरत जी ने तो मेरे इस भ्रम को दूर कर दिया और दिखा दिया कि पर्वत को उठानेवाला मैं नहीं कोई और है। इसे आप भरत जी का भ्रम कहते हैं? उनका तो भ्रम इतना बढ़िया है कि उसने मेरा सारा भ्रम दूर कर दिया। फिर मैं तो महाराज, दवा लेने गया था पर दवा को पहचान ही नहीं सका। दवा को मैंने तब पहचाना जब भरत जी ने मुझे दवा दी। भरत जी ने हनुमान को कौन-सी दवा दी? कैसे उन्हें स्वस्थ किया? गोस्वामी जी सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। अहंकार की एक छाया मात्र आ रही थी, जैसे कोई रोग होने ही वाला हो और पहले ही उसे पकड़ लिया जाय, उस पर रोक लगा दी जाय। अहंकार तो बड़ा भीषण डमरुआ रोग है। और इसकी दवा क्या है? – रघुनाथ जी की भक्ति संजीवनी जड़ी है और श्रद्धा से पूर्ण बुद्धि ही अनुपान है –

रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनुपान श्रद्धा मति पूरी।। ७/१२२/७

हनुमान जी मूर्छित होकर राम-राम कहते हुए गिरे तो भरत व्याकुल हो उठे कि हाय! हाय! मैंने यह किस पर बाण चला दिया! हनुमान जी के पास गये और उन्हें जगाने लगे, पर किसी भी प्रकार से उनकी मूर्छा दूर नहीं हुई, उन्होंने तब किस दवा से हनुमान जी की मूर्छा दूर की? उनके मुँह से निकला –

जौं मोरें मन बच अरु काया।
प्रीति राम पद कमल अमाया।।
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला।
जौं मो पर रघुपति अनुकूला।। ६/५९/६-७

– यदि मन-वचन-कर्म से भगवान श्रीराम के चरणों में मेरा निष्कपट प्रेम हो और यदि वे मुझ पर प्रसन्न हों, तो इस बन्दर का श्रम और शूल दोनों ही दूर हो जायँ। हनुमान का श्रम और शूल दोनों ही दूर हो गये। वे स्वस्थ और चैतन्य हो गये।

भरत जी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि अहंकार कभी तो प्रत्यक्ष रूप में आता है और कभी छिपे हुए रूप में। जैसे यदि किसी व्यक्ति को ऊँचे आसन पर बैठा दिया जाय और वह यह समझे कि मैं कितना बड़ा हूँ कि सबसे ऊपर बैठा हुआ हूँ, यह अहंकार तो प्रत्यक्ष है। पर कभी-कभी ऐसा अहंकार भी आता है कि एक व्यक्ति सबसे पीछे – जूते रखने के स्थान पर बैठे और वहाँ बैठकर यही सोचता रहे कि मैं कितना विनम्र हूँ, तो उसे अपनी विनम्रता का ही अभिमान हो जाता है। जीवन में अभिमान बड़े सूक्ष्म रूपों में आता है। बड़े सज्जन तथा विनम्र दिखनेवाले अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति के जीवन में भी अभिमान आ जाता है।

हनुमान जी की सजगता और श्रीभरत की दवा। और उसके बाद बड़ी सांकेतिक भाषा है। क्या? भरत जी ने हनुमान से कहा कि आप मेरे बाण पर बैठ जाइए, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा देता हूँ –

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता ।। ६/६०/६

आप मेरे बाण पर बैठिए, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा देता हूँ, यह कौन-सा बाण है? वस्तुतः यह एक अनोखा सूत्र है। श्री भरत के पास दो विचित्र बाण हैं। एक बाण के द्वारा उन्होंने हनुमान जी को अयोध्या में नीचे उतारकर उनकी चिकित्सा कर दी और दूसरे बाण के द्वारा वे हनुमान जी को भगवान के पास भेज सकते हैं। बड़ी सांकेतिक भाषा है। इसका तात्पर्य यह है कि भरत जी का यह पहला बाण दैन्य का बाण है। यह बिना फल का बाण है। यह मानो अनासक्ति, निष्काम कर्म या फलशून्य कर्म है। भरत जी के जीवन में एक पक्ष यह भी दिखाई देता है। उनका दूसरा बाण कौन-सा है? हनुमान जी ने तो गद्गद होकर कहा – महाराज, आपने बड़ी कृपा की। सचमुच इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप अपने बाण के द्वारा भी मुझे प्रभु तक पहुँचा सकते हैं और मुझे आपने इतना स्वस्थ भी कर दिया है कि अब मैं स्वयं भी प्रभु के पास पहुँच सकता हूँ। आप दोनों तरह से समर्थ हैं। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि स्वयं चलकर जाना साधना और पुरुषार्थ का पक्ष है और बाण पर चढ़कर बिना श्रम किये, बिना प्रयास के जाना – यह कृपा का मार्ग है। श्री भरत के जीवन का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व उनका विश्वास है, जो बाण में प्रगट हो रहा है। श्री भरत के पास यह जो बाण है, वह वस्तुतः उनके जीवन में भगवान के कृपा के ऊपर उनके प्रगाढ़ विश्वास का सूचक है। इसका अभिप्राय यह है कि चलकर भी व्यक्ति पहुँचता ही है भगवान के पास साधना के मार्ग से, पर यदि सन्त या गुरु की कृपा पर विश्वास हो जाय, तो ऐसा भी हो सकता है कि वह कृपा के द्वारा ही, बिना कुछ किये ही भगवान को पा लेता है। लेकिन हनुमान जी की महानता क्या है? उन्होंने बस कृपा का ही सूत्र लिया। उन्होंने धन्यवाद दिया, पर बाण पर बैठकर नहीं गये। बोले – महाराज, आपकी दवा से अब मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया हूँ। इसकी कसौटी क्या है? हनुमान जी बोले – मैं समझ गया हूँ कि दवा क्या है। पहले नहीं पहचान सका था, पर आपकी दवा से अब इतना चैतन्य हो गया हूँ कि पहचान आ गई है। अब यह जो मैं जाऊँगा, वह अपने बल से थोड़े ही जाऊँगा, आपने तो केवल स्मरण दिला दिया, वस्तुतः भगवान की कृपा ही जीव को भगवान के पास पहुँचाती है। आपको कृपा प्राप्त है और अब मुझे भी विश्वास हो गया है कि मैं भी आपके बाण की तरह चला जाऊँगा। मुझे अब सन्देह नहीं रहा।

अब एक ओर है – कालनेमि और उसकी औषधि, यदि हनुमान जी उस पर विश्वांस कर लेते और रुक जाते तो रोगी की स्वस्थता तो दूर, स्वस्थ व्यक्ति का भी विनाश हो जाता। दूसरी ओर हैं – भरतजी। उनके द्वारा जिस पद्धति से हनुमान जी स्वस्थता का अनुभव करते हैं। किन्तु एक स्थिति यह भी है जहाँ पर श्रेष्ठतम वैद्य भी है और दवा भी फिर भी रोग का निदान नहीं हो पाता। संसार के सबसे बड़े वैद्य हैं – भगवान शंकर और दवा है – भगवद्भक्ति। रोग तो घर में ही सती जी को हो गया, पर वे निरोग नहीं हो सकीं। इसका अभिप्राय यह है कि महत्त्व केवल वैद्य और औषधि की श्रेष्ठता का नहीं है, रोगी को भी वैद्य और औषधि के प्रति श्रद्धावान और विश्वासी होना चाहिये। वैद्य द्वारा दी गयी औषधि को यदि वह ग्रहण न करे, पथ्य को स्वीकार न करे, तो भला वैद्य और औषधि का उसे लाभ कैसे मिलेगा, वह स्वस्थ कैसे होगा?

शंकर जी ने सती जी से एक दिन यह प्रस्ताव किया कि चलो, दण्डकारण्य में जाकर कथा सुन आएँ। शंकर जी समझ गये थे कि सती जी के अन्तःकरण में कहीं-न-कहीं अहंकार का डमरुआ रोग हो गया है। इन्हें औषधि देना चाहिए। शंकर जी सती जी को कहाँ ले जा रहे हैं? सर्वश्रेष्ठ दवा दिलाने – संत का संग और भगवान की कथा –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।। ३/३५/८

प्रश्न उठता है कि स्वयं भगवान शंकर ने ही सती जी को कथा क्यों नहीं सुनायी? आपने देखा होगा कि जब डॉक्टर के घर कोई बीमार पड़ जाता है, तो बहुधा वे बाहरवाले डॉक्टर को बुलाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि घर के डॉक्टर पर घरवालों को उतना भरोसा नहीं होता। शंकर जी ने भी सोचा कि मेरी दवा से शायद इनको लाभ न हो, तो चलो दूसरे वैद्य से चिकित्सा करा दें। अतः स्वयं शंकर जी कथा न सुनाकर उनसे दण्डकारण्य जाकर अगस्त्य जी से कथा सुनने का प्रस्ताव करते हैं। अगस्त्य जी सन्त हैं, महान् सद्गुरु हैं और उनके पास वह श्रेष्ठ औषधि है – भगवान की भक्ति, भगवान

की कथा। पर क्या सती जी स्वस्थ हो पाईं? इसे यदि हम अपने जीवन में घटाकर देखें, तो लगेगा कि कहीं तो हम कालनेमि वृत्ति के कारण स्वस्थ नहीं हो पाते और कहीं हम यही मानकर चलने लगते हैं कि जितने महात्मा, सन्त तथा गुरु है, वे सब कालनेमि ही हैं, सब पाखण्डी हैं। यह भी सही दृष्टि नही है। अब हम विचार करके देखें कि योग्य वैद्य तो है, पर स्वयं रोगी में स्वस्थ होने की आकांक्षा नहीं है। एक तो रोगी में वैद्य पर विश्वास, दवा का सेवन, पथ्य का पालन आदि जो बातें होनी चाहिये, वह नहीं होगा तो वह स्वस्थ नहीं होगा। सती के जीवन में आप यही क्रम पायेंगे। उन्हें दवा दी गयी। अगस्त्य जी ने उन्हें कथा सुनायी। सती जी का शरीर तो कथा मे उपस्थित था पर मन कहीं और था, अत: वे कथा नही सुन पायीं। कथा में बैठ जाना ही यथेष्ट नहीं है। संख्या देखकर तो प्रसन्नता होती है कि बहुत लोग सुनने आये हैं, पर सुनते कितने लोग हैं! कौन बता सकता है कि कोई व्यक्ति कथा मे बैठकर मन-ही-मन क्या सोच रहा है?

एक दिन एक सज्जन बड़े प्रेम से आकर आगे ही बैठ गये। कथा पूरी होने पर किसी ने पूछा – कथा कैसी लगी? उन्होंने कहा कि आज वक्ता ने बत्तीस बार अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया। पूरी कथा में वे शब्द ही गिनते रहे कि कितने बार अशुद्ध प्रयोग हुआ। इस प्रकार की वृत्ति लेकर जो बैठा हुआ है, वह बैठा तो कथा में ही है, पर कथा से उसको क्या कोई लाभ होनेवाला है? स्वयं कागभुशुण्डि ने अपना अनुभव सुनाया। गरुड़ जी ने पूछा कि लोमश जी तो स्वयं बहुत बड़े महात्मा थे, ज्ञान का उपदेश दे रहे थे, उनके उपदेश का प्रभाव आप पर क्यों नहीं पड़ा? कागभुशुण्डि ने कहा – भाई, सच्ची बात तो यह है कि मैं बैठा तो लोमश जी के सामने था, पर जितनी देर वे बोलते रहे, मैं क्या करता रहा –

एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ।
मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ।। ७/११२/११

– वे जो भी कहते, मैं उसे काटने की फिराक में लग जाता। परिणाम यह हुआ कि उनके पूरे भाषण को मैंने अनादरपूर्वक, अन्यमनस्क होकर सुना, अत: मुझे कोई लाभ नहीं हुआ।

यह सन्त का लक्षण है। श्रोता में कितना आत्मनिरीक्षण है। कागभुशुण्डि कह सकते थे कि लोमश जी के उपदेश किसी काम के नहीं थे, मुझे अच्छा नहीं लगा, इसलिये नहीं सुना। पर वे बोले – नहीं, उनके उपदेश तो बड़े अच्छे थे, पर क्या कहूँ, कुछ तो वह मेरी प्रकृति से अनुकूल नहीं था और कुछ यह कि मैं ध्यान से नहीं सुन रहा था, अत: मुझे लाभ नही हुआ। यही समस्या सती जी के साथ भी है। कथा-श्रवण करने गयीं हैं और वहाँ तो पहली शर्त यही है न –

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।

पर उनके साथ सबसे बड़ी समस्यी यही है। सती जी तो दक्ष की पुत्री हैं। वहाँ तो बुद्धि, विचार, तर्क की प्रधानता है। उनमें विश्वास का संस्कार तो है ही नहीं। भगवान शंकर जब उनके साथ अगस्त्य जी के आश्रम में पहुँचे, तब अगस्त्य जी बड़े प्रसन्न हुये। गद्‌गद होकर उन्होंने सती जी और शंकर जी का स्वागत किया और उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाकर उनकी पूजा की। सच्चे वक्ता का लक्षण यही है कि वह जानता है कि वास्तव में श्रोता ही बड़ा है। अगर आप इस पर विचार करके देखें, तो इसका अभिप्राय यह है कि वक्ता ऊँचे आसन पर बैठकर यदि यह सोचे कि मैं बड़ा हूँ तब तो बस हो गया, उसने अभिमान पाल लिया। सुननेवाले व्यक्ति के साथ भी यदि यही समस्या आ सकती है, यदि वह सोचने लग जाय कि मैं कितना विनम्र हूँ, नीचे बैठकर कथा सुन रहा हूँ, वक्ता पर कृपा कर रहा हूँ, तो उसने भी अभिमान पाल लिया।

सत्संग और कथा का अभिप्राय ही यही है कि सबसे पहले अहं का विसर्जन होना चाहिये। वक्ता का अभिमान तो पहले ही विसर्जित हो जाना चाहिये। जिसे अभिमान हो वह कथा क्या सुनायेगा? इसी प्रकार जो श्रोता है, उसे भी पहले से ही निरभिमान होना ही चाहिये, क्योंकि उसमें अभाव का बोध है, तभी तो वह कथा सुनने आया है। इस तरह से परस्पर एक दूसरे के प्रति सम्मान का भाव, स्वयं में अभिमानशून्यता लेकर कथा कहने और सुनने से वक्ता-श्रोता दोनों को कथा का लाभ होता है। श्रोता जब यह सुनकर गद्‌गद हो, कृतज्ञ हो कि –

नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहीं अघात मतिधीर।। ७/५२

यह श्रोता की प्रवृत्ति है – आपके मुख से अमृत प्रवाहित हुआ, जो अमृत आपने हमें पिलाया, जिसे पीकर हम तृप्त नहीं होते, हम आपको किन शब्दों में धन्यवाद दें, किस तरह आपका अभिनन्दन करें! ऐसी कृतज्ञता की वृत्ति आये। और वक्ता की प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिए? कागभुशुण्डि जी ने गरुड़ जी को कथा सुनायी। गरुड़ जी पक्षियों के राजा हैं और काग-भुशुण्डि जी ने उन्हें कथा सुनायी, तो यह गर्व नहीं हुआ कि इतने महान् व्यक्ति कथा सुनने आये हैं। किसी व्यक्ति का किसी बड़े राजनेता से परिचय हो तो वह बड़े गर्व सोचता है कि इतने बड़े-बड़े लोग मुझे सम्मान देते हैं। पर कागभुशुण्डि की कथा की समाप्ति कहाँ पर होती है? यह रामायण की बड़ी अद्‌भुत शैली है। धन्यवाद वक्ता को तो दिया ही जाता है, यह परम्परा तो है, परन्तु यदि वक्ता स्वयं को धन्यवाद दे! कागभुशुण्डि जी ने दो बातें कहकर स्वयं को धन्यवाद दिया। उन्होंने कहा – **आजु धन्य मैं धन्य अति** – मैं धन्य हूँ। यह तो अपने मुख अपनी प्रशंसा हो गयी। पर अगला वाक्य क्या है? – मै तो सब प्रकार से दीन और तुच्छ हूँ। निकृष्ट जाति का हूँ, निम्न श्रेणी का हूँ। दीनता की वृत्ति है उनमें। उसका

क्या परिणाम हुआ? दृष्टि कहाँ चली गयी? यह तो भगवान की कथा का माहात्म्य है कि उसने एक कौवे को इतना ऊँचा पद दे दिया। पक्षियों के राजा गरुड़ कथा सुनने आये हैं। यह तो भगवत्कथा की महिमा है, मेरी नहीं। इसलिये कहते हैं –

आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब विधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन ।। ७/१२३

संकेत क्या है? गरुड़ जी से कह भी दिया कि आप कथा सुनने आये हैं, इसका वास्तविक कारण मैं जानता हूँ। गरुड़ जी को आश्चर्य हुआ। बोले – मैं कथा सुनने क्यों आया हूँ, इसे मै बताऊँगा या आप बताएँगे? श्रोता ही तो बताएगा कि वह क्यों आया है। आप ही मुझसे पूछिये कि मैं क्यों आया हूँ, आप क्यों बता रहे हैं? कागभुशुण्डि बोले – आपने जो कारण बताया, वह तो मैंने सुन लिया। वह भले ही आपको कारण लगता हो, पर वास्तविक कारण तो दूसरा ही है। – क्या? बोले – कथा सुनने आप स्वयं ही थोड़े आये हैं, आपको भगवान ने यहाँ भेजा है। – क्यों, उन्हें क्या जरूरत थी? कागभुशुण्डि जी ने कहा – वस्तुत: मैंने हठ किया और उस हठ से रुष्ट होकर मुनि लोमश ने मुझे शाप दे दिया – जा तू कौवा हो जा। उन्होंने मुझे कौवा बना दिया। मैं भक्ति का पक्षपाती हूँ, इसलिये उनकी दृष्टि में मैं कौवा हो गया। पर प्रभु ने मुझे एक ऐसा दिव्य अवसर दिया –

भगति पच्छ हठि करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ वर पायउँ देखहु भजन प्रताप ।। ७/११४

तब हुआ यह कि प्रभु ने हंसों को श्रोताओं के रूप तो भेजा ही, पर उसके द्वारा उन्होंने मानो एक और ही संकेत भी दिया। कौवा बड़ा कर्कश कण्ठवाला माना जाता है। कोयल यदि कथा कहे तो उसमें मिठास की अनुभूति होगी। ऐसी स्थिति में यह पता नहीं चलता कि यह मिठास कथा की है या कण्ठ की। इन दोनों में भेद करना बड़ा कठिन है। यह एक बड़ी जटिल समस्या है। भोजन में जब मसाला पड़ा होता है, तो यह बताना कठिन हो जाता है कि भोजन स्वयं स्वादिष्ट है या मसाले के कारण स्वादिष्ट लग रहा है। कई बार तो मसाले का स्वाद ही इतना अधिक हो जाता है कि भोजन का मूल स्वाद ही पता नहीं चलता। व्यक्ति मन्दिर में जाता है, दर्शन करके कहता है कि भगवान आज बड़े सुन्दर लग रहे हैं। तब सुनकर मन में जरूर यह बात आती है कि कल कम सुन्दर लग रहे होंगे, आज अधिक सुन्दर कैसे हो गये? तो पता चलेगा कि आज बढ़िया श्रृंगार हुआ होगा, बढ़िया कपड़ा पहना दिया गया होगा, तो भगवान अधिक सुन्दर लगने लगे। वस्तुत: भगवान सुन्दर लग रहे हैं या कपड़े सुन्दर लग रहे हैं, इसमें भेद करना बड़ा कठिन है। प्रभु का संकेत मानो यह है कि कौवा का कण्ठ तो कर्कश है और जब वह कर्कश स्वर में कथा सुनावे और जब वह मधुर लगे तब तो वह मिठास राम कथा की ही है, कण्ठ की नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं – यही कसौटी है। राम कब मीठे लगते हैं? प्रसाद मिला। बोले – आज तो प्रसाद बड़ा स्वादिष्ट है। बस समझ लेना चाहिये कि जरूर मिठाई का प्रेमी है, प्रसाद का नहीं। चाहे जो मिले और तब कहे कि प्रसाद बहुत बढ़िया है, तब तो प्रसाद का प्रेमी है और यदि कहे कि आज प्रसाद बढ़िया है या कल का बढ़िया था, तब वह बढ़िया मिठाई को कह रहा है, प्रसाद को नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान की कथा सही अर्थों में कौन सुन रहा है? कितने लोग तो मनोरंजन और संगीत की मधुरता के स्तर में सुन रहे हैं –

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुनग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ।। ७/५३/४

वक्ता का स्वर कानों को बड़ा प्रिय लग रहा है, मन को मनोरंजन मिलता है। कुछ चुटकुले आ गये तो और भी मजा आ गया। इसलिए गोस्वामी जी ने यही कहा – **बिषयिन्ह** – विषयी सच्चा श्रोता नहीं है। वह मनोरंजन हो, कानों को अच्छा लगे, इसलिए सुनता है। बड़ी सांकेतिक भाषा है – वक्ता बना दिया कर्कशता की पराकाष्ठा रूप कौए को। लोमश जी ने रुष्ट होकर कहा कि तेरा कण्ठ कर्कश हो जाय, तू कौवा हो जा। पर कागभुशुण्डि जी ने कहा कि मैं तो धन्य हो गया। इस कर्कश स्वर से जब मैंने राम कथा कही, तो उस कथा की मधुरता से परिणाम क्या हुआ? गोस्वामी जी के सामने बहुत बढ़िया बात आई। किसी ने उनसे पूछा – महाराज, जब कौवे ने कथा सुनाई होगी, तो सुननेवालों को तो बड़ा अटपटा लगा होगा? गोस्वामी जी ने कहा – नहीं भाई, रामकथा इतनी मधुर है कि कौवे के कण्ठ को भी मधुर बना देती है –

मधुर बचन तब बोलेउ कागा। ७/६३/८

यह है रामकथा की महिमा। कथा की मधुरता से कण्ठ मधुर बना या कण्ठ की मधुरता से रामकथा की मधुरता प्रमाणित मानी जाय? इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि प्रभु ने ऐसी कृपा की कि कौवे को कथावाचक बना दिया और हंसों को श्रोता, पर प्रभु को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। जब तक पक्षियों के राजा गरुड़ कागभुशुण्डि की कथा में न जायँ, तब तक भक्त की पूरी महिमा प्रगट नहीं होगी। कागभुशुण्डि जी ने गरुड़ से कहा – नहीं, नहीं, आपको भी कभी भ्रम हो सकता है? यह तो भगवान ने ही जान-बूझकर मुझे बड़प्पन देने के लिए आपमें थोड़ा भ्रम पैदा कर दिया है –

पठइ मोहि मिस खगपति तोही।
रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही ।। ७/७०/४

आपका मोह तथा भ्रम वास्तविक नहीं केवल हरि प्रेरित है। यह हुई श्रोता के प्रति वक्ता की भावना। वैसे ही शंकर जी से कथा सुनने के बाद पार्वती जी कहती हैं – आपके मुँह से अमृत निकला, मैं धन्य हो गई। तब शंकर जी ने कहा – मैं

तो समझता हूँ कि तुम्हारे मन में मोह-भ्रम कुछ भी नहीं है –

राम कृपा तें पारबती सपनेहु तव मन माहिं ।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं ।। १/११२

यह तो मुझे राम-कथा कहने का सुअवसर मिला। यह मेरा सौभाग्य है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि कथा की सार्थकता तो यही है कि जब बोलनेवाले को यह अनुभूति हो, जो शंकर जी को होती है, कागभुशुण्डि जी को होती है। भुशुण्डि जी कथा की समाप्ति करते हुए कहते हैं –

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी ।
कबि कोबिद कृतग्य सन्यासी ।।
जोगी सूर सुतापस ग्यानी ।
धर्म निरत पंडित बिग्यानी ।।
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी ।
राम नमामि नमामि नमामि ।।
सरन गएँ मो से अघरासी ।
होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी ।। ७/१२४/५-८

कागभुशुण्डि की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि बोलने के पश्चात् यदि वक्ता को भगवान की कृपा की अनुभूति हो और श्रोता को भगवान की भक्ति की अनुभूति हो, तो समझ लेना चाहिए की कथा सार्थक हुई। सुनने के बाद परीक्षा होगी कि उसके बाद क्या लेकर लौटा। यहाँ पर संकेत है – अगस्त्य जी ने शंकर जी से पूछा कि आपने कैसे कष्ट किया? उन्होंने कहा मैं तो कथा सुनने आया हूँ। अगस्त्य जी सुनकर गद्‌गद हो गये। बोले – देखो तो, ये जगत्पिता और जगन्माता हैं, साथ ही राम-कथा के स्वयं रचयिता और महानतम वक्ता हैं, फिर भी मुझे बड़प्पन देने के लिये कथा सुनने आ गये हैं। नहीं, नहीं, मैं बड़ा थोड़े ही हूँ, वे आ गये हैं तो क्या हुआ, बड़े तो वे ही हैं, वे हमारे पूज्य हैं, वन्दनीय हैं। अगस्त्य जी ने उनकी पूजा की। पूजा तो दोनो की हुई, पर अर्थ दोनों ने अलग अलग लिया। अगस्त्य जी ने जब पूजा की, तो शंकर जी थोड़े संकोच में पड़ गये। बोले – धन्य हैं आप, अरे, श्रोता को वक्ता की पूजा करनी चाहिये, तो आप ऐसे वक्ता हैं कि श्रोता की ही पूजा कर रहे हैं। आप बड़े कृपालु हैं। लेकिन सतीजी ने क्या अर्थ लिया? जब अगस्त्य जी ने सती जी की पूजा की, तो उनका डमरुआ (अहंकार) और बढ़ गया। वह डमरुआ तो उन्हें पहले से ही था, दक्ष की पुत्री होने से वह संस्कार उनमें था। सम्मान से यह डमरुआ रोग बढ़ता है। उन्होंने सोचा कि ये मुझसे कम बुद्धिमान है, तभी तो मेरी पूजा कर रहे हैं। ये मुझे क्या कथा सुनाएँगे? क्या मैं इनसे कथा सुनूँगी? इसका अभिप्राय क्या हुआ? कथा में बैठीं, पर डमरुआ रोग के कारण कथा की ओर ध्यान ही नहीं था। रोग तो घटा नहीं, बाद में और भी कई रोगों से ग्रस्त हो गयीं। संशय हो गया, भ्रम हो गया, अविश्वास हो गया, अन्त में शरीर छोड़ना पड़ा। मानो इतने बड़े वैद्य की पत्नी, इतना सत्संग और कथा की दवा, पर सतीजी स्वस्थ नहीं हो पायीं, बल्कि और अधिक अस्वस्थ हो गयीं। अन्ततः वे स्वस्थ कब होती हैं? जब पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं। पार्वती जी के जीवन में स्वस्थता के सारे लक्षण हैं। सती के रूप में जो सारे रोग उनमें थे, पार्वती के रूप में जन्म लेने के बाद वे सारे रोग दूर हो जाते हैं। कैसे दूर हो जाते हैं? वही सूत्र है – सत्संग, कथा और गुरु के वचनों में विश्वास। इन्हीं सब उपचारों से उनका जीवन बदल गया, उनके जीवन में स्वस्थता आ गयी। उनके जीवन में सद्‌गुरु कौन है? नारद जी। नारद जी ने उन्हें शंकर जी को पाने का उपाय बताया। पार्वती जी गद्‌गद्‌ हो गयीं – नारद जी मेरे गुरु हैं, शंकर जी मेरे आराध्य इष्ट हैं –

सदगुर बैद बचन बिस्वासा ।

ऐसा विश्वास की शंकर जी ने सप्तर्षियों से जाकर कहा कि जाकर पार्वती की परीक्षा लो, देखो वह पूर्वजन्म के संस्कारों से मुक्त हुई हैं या नहीं। कहीं कोई पूर्व संस्कार शेष तो नहीं है? सप्तर्षि गये। पार्वती जी ने स्वागत किया। सप्तर्षियों ने उनसे पूछा – आप किसलिए तपस्या कर रही हैं? उत्तर में पार्वती जी ने जो पहला वाक्य कहा, उसी में उन्होंने परीक्षा की भावभूमि को अस्वीकार कर दिया। उनके शब्दों में विनम्रता तो है पर तर्क के सारे द्वार बन्द हैं। तर्क की तो उन्होंने जड़ ही काट दी। उन्होंने कहा – आप हमारी बात सुनकर हँसेंगे –

हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई ।। १/७८/४

इसका अर्थ है कि जो पहले से ही यह आशा रखें कि लोग हमारी बात सुनकर बड़े कृतज्ञ होंगे, हमारा अभिनन्दन करेंगे और ऐसा न हुआ तो बड़ी निराशा होगी। पर जिसने पहले से ही कह दिया, उसको क्या चिन्ता है इस बात की? सप्तर्षियों ने कहा – अच्छा, कहिये क्या कहती हैं? बोलीं –

चाहिअ सदा सिवहि भरतारा ।। १/७८/७

शिवजी को पति के रूप में पाने हेतु तप कर रही हूँ। सुनते ही सप्तर्षियों ने वही किया जो पार्वती जी ने कहा था –

सुनत बचन बिहसे रिषय ।। १/७८

सात महात्मा एक साथ हँस पड़े। दूसरा कोई होता तो हतप्रभ हो जाता कि इतने बड़े बड़े महापुरुष मेरी बात पर हँस रहे हैं। लेकिन पार्वती जी ने मुस्कुराकर देखा और बोलीं – देखिये, मैंने तो पहले ही कहा था कि आप लोग हँसेंगे, मेरी भविष्यवाणी तो सत्य हो गयी। आप मेरी बात पर हँस रहे हैं। सप्तर्षियों ने कहा कि हमें हँसी आ रही है, आपकी मूर्खता पर। अरे जरा सोचो, शंकर को कैसे चुना तुमने? और गुरु भी किसे बनाया? तुम्हें करना है विवाह और ब्रह्मचारी को गुरु बनाया। जिन्होंने स्वयं विवाह नहीं किया, वे क्या तुम्हारा

विवाह करायेंगे? तुमने विवाह करना चाहा तो उन्होंने ऐसे विवाह की योजना बनायी कि तुम जीवन भर दुखी रहो। ये नारद, जिन्हें तुमने अपना गुरु बनाया है, उनकी बात पर विश्वास करके तुम शंकर से विवाह करना चाहती हो? –

तेहि के बचन मानि बिस्वासा ।
तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ।।
निर्गुन निलज कुबेष कपाली ।
अकल अगेह दिगम्बर ब्याली ।।
कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ ।
भल भूलिहु ठग के बौराएँ ।। १/७९/५-७

शंकर में इतने अवगुण हैं। और तुम्हारा गुरु तो पक्का ढोंगी है। वह तो तुम्हारा सत्यानाश कर देगा। तुम किस चक्कर में पड़ी हो? इसके बाद पार्वती जी ने जो उत्तर दिया, उसे सुनकर सप्तर्षि समझ गये कि पार्वती जी को अपने गुरु के वचन में दृढ़ विश्वास है। तब उन्होंने बड़ी चतुराई की। उन्होंने कहा – वैसे तो शंकर जी अवगुणों के भण्डार हैं, पर एक गुण उनमें बड़ा अच्छा है। – क्या? – वे बोलते सही हैं। सप्तर्षियों ने पार्वती जी से कहा – शंकर जी तो आपके आराध्य हैं, वे स्वयं आकर यदि कह दें कि नारद ने जो बात आपसे कही है, वह ठीक नहीं है, तब तो आप मान लेंगी न! इसके उत्तर में पार्वती जी ने बड़ी मधुर पद्धति से कुछ बातें कहीं। ऋषियों ने कह दिया था –

सुनत बचन बिहसे रिषय गिरि संभव तव देह । १/७८

अरे आखिर पत्थर की ही तो बेटी है, जड़ की बेटी जड़ ही तो होगी। इसलिए पार्वती जी ने कहा कि जब आप पहले ही पहचान गये कि मैं पत्थर की बेटी हूँ, तो पत्थर की बेटी को भाषण सुनाना, यह तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। पत्थर की बेटी तो पत्थर ही रहेगी। किन्तु पत्थर का अर्थ क्या ले रहे हैं आप? मैं हिमालय की पुत्री हूँ, पत्थर की बेटी हूँ, पर मैं स्वर्ण हूँ। पत्थर से ही तो सोना निकलता है –

कनकउ पुनि पषान तें होई । १/८०/६

इसका संकेत यह है कि जो अचल समस्या है, यही तो हिमाचल है और उससे उत्पन्न यह श्रद्धा ही स्वर्ण है। पार्वती जी बोलीं – शंकर जी यदि कहें कि प्राण दे दो, तो प्राण दे दूँगी या अन्य जो भी आज्ञा देंगे, वह भी मान लूँगी, पर यदि कहें कि नारद जी का उपदेश छोड़ दो, तब तो मैं कहूँगी –

तजउँ न नारद कर उपदेसू ।
आप कहहिं सत बार महेसू ।। १/८१/६७

एक बार नहीं, यदि सौ बार भी कहें, तो उनकी बात नहीं मानूँगी। इसका अभिप्राय क्या है? उनकी बात मानने का आधार यही है न कि वे मेरे आराध्य हैं, मैं उन्हें पाना चाहती हूँ, उनसे प्रेम करती हूँ। और नारद जी कहते हैं – भगवान शंकर से प्रेम करो, उन्हें पाने के लिये तप करो। अब यदि शंकर जी कहें कि मैं नारद जी की बात न मानूँ, तब तो शंकर जी की बात मानने का आधार ही नष्ट हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि शंकर जी जब यह कहें कि मुझसे प्रेम न करो, मुझे पाने की चेष्टा मत करो, तो फिर मैं उनकी बात ही क्यों मानूँगी? इसलिए मैं तो गुरु के उपदेश में ही अचल आस्था और विश्वास रखूँगी, क्योंकि उन्होंने मुझे आधार प्रदान किया है। नारद जी यही तो कह रहे हैं न कि शंकर जी से प्रेम करो। अब यदि शंकर जी यह कहें कि नारद जी की बात को मत मानो, तो इसका अर्थ यही हुआ कि शंकर जी कह रहे हैं कि मुझसे प्रेम मत करो। ऐसी स्थिति में महाराज, मैं तो बात उनकी ही मानूँगी, जो मुझे शंकर जी से प्रेम करने के लिए कह रहे हैं। जिनसे मैं प्रेम करती हूँ, वे स्वयं आकर यह कहें कि मुझसे प्रेम मत करो, तो मैं उनकी बात क्यों मानूँ? उनकी बात मानने का आधार ही यही है कि मैं उनसे प्रेम करती हूँ। उनके कहने पर जब मैं उनसे प्रेम नहीं करूँगी, तो उनकी बात भी क्यों मानूँगी? इसका तात्पर्य यह है कि जब आज्ञापालन का आधार ही नहीं रह जायेगा, तब आज्ञापालन का प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। गुरु के वचन में विश्वास और दृढ़ आस्था का आधार तो शंकर जी के प्रति प्रेम ही है। और –

पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू ।। १/७४/२

कैसा अनोखा संकेत है! पार्वतीजी तपस्या में लग गयीं। संयम के विषय में कहा गया – रोगी के जीवन में विषय की आशा समाप्त हो जाय। रोगी कुपथ्य न करे। यह सब पार्वती जी के जीवन में विद्यमान है –

रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनुपान श्रद्धा मति पूरी ।।७/१२२/७

श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप क्या है? यह पार्वती जी के जीवन में देख लीजिये। गुरु के प्रति कैसी आस्था है और उसका परिणाम क्या हुआ? वही पार्वती जी, जो पूर्व जीवन में सती थीं, महानतम गुरु की पत्नी होते हुये भी स्वस्थ नहीं हो सकीं। जब उनके जीवन में इन सबका पूरी तरह से सामंजस्य हुआ, तब उन्होंने सद्‌गुरु चुना, सद्‌गुरु की वाणी में विश्वास किया; कहने मात्र का विश्वास नहीं, बल्कि उस विश्वास को उन्होंने जीवन में क्रियान्वित किया। गुरु के वचन पर विश्वास का यह अर्थ नहीं कि हम सब गुरु पर ही छोड़ दें। सम्पाती के प्रसंग में ऐसा संकेत आता है। बन्दर जब सागर के किनारे पहुँचकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, तब उन्हें संपाती के रूप में गुरु मिले। उन्होंने बन्दरों से कहा – सीता जी अशोक वाटिका में बैठी हुई हैं। बन्दर बोले – महाराज, हमें तो दिखाई नहीं दे रही हैं, आप यदि उनका समाचार लाकर हमें बता दें, तो बड़ी कृपा होगी।

(शेष पृष्ठ ३८० पर)

माँ के सान्निध्य में (७२)

श्रीमती सरलाबाला देवी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे थे। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

उद्‌बोधन – कलकत्ता

आज जगद्धात्री-पूजा है। सुबह से ही भक्तों का आगमन हो रहा है। योगेन-माँ के घर में पूजा है; वे सबेरे आकर ही लौट गयी हैं। माँ को जाने के लिए कह गयी हैं। एक भक्त ने आकर माँ को प्रणाम किया और बोला, "माँ, यदि आप कृपा करके इस अधम सन्तान के घर में एक बार चरणधूलि दें।" माँ ने कहा, "ठीक है, देखूँ अपराह्न में जा सकूँगी क्या! तुम एक बार अपराह्न में आना। यदि हो सका तो जाऊँगी।"

दोपहर में माँ और हम सभी योगेन-माँ के घर जाकर देवी का दर्शन कर आयीं। माँ ने पूरे दिन का उपवास रखा है, क्योंकि उनके मकान में पूजा है। चार बजे के बाद जब सारी पूजा समाप्त हो गयी, तब माँ ने प्रसाद ग्रहण करके थोड़ा विश्राम किया।

वे भक्त माँ को ले जाने के लिए आये हैं। सुनकर माँ ने कहा, "सुबह इतना कह रहा था, जाऊँ एक बार हो आऊँ।" उसका घर राजबल्लभ पाड़ा में है, ज्यादा दूर नहीं है। माँ के गाड़ी से उतरते ही, उन लोगों ने माँ के चरण धोने के बाद उस जल को सँभालकर रख दिया। मकान छोटा-सा था और फिर टूटा हुआ भी था। हम लोगों ने देवी को प्रणाम करके भीतर प्रवेश किया। उन लोगों ने कमरे में एक आसन बिछाकर माँ को बैठाया। माँ कमरे के द्वार के सामने आसन बिछाकर बोलीं, "मैं यहीं बैठती हूँ।"

एक वृद्धा माँ के साथ बातें करने लगीं।

वृद्धा – माँ, मेरे बच्चे पर आशीर्वाद करो। पूजा करने की उसे बड़ी साध है, परन्तु घर आदि कुछ है नहीं। जैसे भी हो, माँ की पूजा तो सम्पन्न हुई। उसने स्वयं ही सब किया है।

माँ – अहा, अच्छा तो किया है। जब माँ आयी हैं, तो घर-बार सब हो जायेगा। तुम्हारा लड़का बड़ा अच्छा है, उसमें खूब भक्ति है।

थोड़ी देर बाद प्रसाद ले आने पर माँ उसमें से थोड़ा-सा मुख मे डालने के बाद विदा लेने को उठ खड़ी हुई। माँ देवी का दर्शन करने के बाद एक रुपया देकर प्रणाम करके बोलीं, "प्रतिमा बड़ी सुन्दर हुई है। माँ के मुख पर बड़ा अद्‌भुत भाव है, भक्त की पूजा है न!" लौटने के बाद नलिनी कहने लगी, "कैसा घर है माँ! थोड़ी-सी बैठने को भी जगह नहीं है। उस मकान में कैसे पूजा हो सकी है!" माँ बोलीं, "क्या करेगा, बोलो? अहा! गरीब आदमी है, तो भी माँ को लाया है। यह ब्राह्मण भक्त है। माँ कृपा करके उसके घर में आयी हैं।"

जयरामबाटी से पत्र आया है कि वहाँ माँ की पूजा निर्विघ्न सम्पन्न हो गयी है और बहुत-से लोगों ने प्रसाद ग्रहण किया। माँ बोलीं, "जो भी हो बेटी, माँ की कृपा से उनकी पूजा ठीक ठीक सम्पन्न हो गयी। बड़ी चिन्ता थी कि वे लोग क्या करेंगे। ज्ञान है, इसीलिए माँ की पूजा भलीभाँति हुई है।"

एक दिन माँ संध्या के बाद राधू के पास बैठकर उसे सेंक दे रही थीं। उसके दो पंजरों के नीचे बड़ी पीड़ा हो रही थी। एक स्त्री-भक्त माँ को प्रणाम करके बैठ गयीं।

माँ – आओ बेटी, कैसी हो?

भक्त-महिला – ठीक हूँ, राधू को क्या हुआ है, माँ?

माँ – राधू को उसी पीड़ा ने पकड़ा है, बेटी। देखो न, मेरी बच्ची परेशान हो गयी है। मुआ दर्द न जाने कहाँ से आ गया? इतने चिकित्सकों को दिखाया जा रहा है, कितने देवी-देवताओं से मन्नत की है, परन्तु कोई सुनता नहीं है जी।

भक्त-महिला – ठीक हो जायेगी, माँ। भय क्या है?

माँ – तुम लोग यही आशीर्वाद करो, बेटी।

थोड़ी देर बातचीत करने के बाद भक्त-महिला द्वारा प्रसाद लेकर चली जाने पर मैं माँ से बोली, "माँ, ये क्या अमुक हैं? कैसी हो गयी हैं, पहचानने में नहीं आतीं।"

माँ – पहचान में कैसे आयेगी, बेटी? पाप घुसने से क्या उससे बचने का कोई उपाय है? यहाँ हमारे पास आना उसे मना है, इसीलिए रात में छिपकर आती है।

मैं – पहले तो उसे आपके पास रहते देखा है।

माँ – हाँ, पहले दिन में मेरे पास रहती थी, रात में घर चली जाती थी। राधू की उसने कितनी सेवा की है! कर्म के न जाने किस चक्र से वह ऐसी हो गयी, बेटी। मेरे पास आना ही बन्द है। उसने इस जन्म में कुछ नहीं किया है, सब पिछले जन्म का ही है।

एक अन्य दिन अपराह्न के समय माँ कमरे में बैठी थीं। ठाकुर के भक्त पूर्ण बाबू बड़े बीमार हैं, उनके बचने की आशा नही है। उनकी माँ आयी हुई हैं। उन्हें आते देखकर माँ ने कहा, "वही आ रही है। हर रोज आकर मुझे तंग करती है – 'माँ, आशीर्वाद करो, पूर्ण को ठीक कर दो।' मैं जानती हूँ न कि पूर्ण बचेगा नहीं, तो भी इन लोगों को दिलासा देने के लिए कहना पड़ता है कि ठीक हो जायेगा।"

पूर्ण बाबू की माँ माताजी को प्रणाम करके बोलीं, "माँ, अपने बच्चे को ठीक कर दो।" और रोने लगीं।

माँ – मैं क्या करूँगी, माँ? ठाकुर से कहो, वे ठीक कर देंगे।

पूर्ण बाबू की माँ – तुम तो अपनी इच्छा मात्र से ठीक कर सकती हो माँ!

माँ – मैं तो ठाकुर से कहा करती हूँ।

इसके बाद माँ हम लोगों से बोलीं, "ठाकुर ने कहा था, 'उसका विवाह करने से वह ज्यादा दिन नही बचेगा।' उस समय तो इसने सुना नहीं; कही संन्यासी न हो जाय, इस भय से जल्दबाजी में शादी कर दी।"

कुछ दिनों बाद एक दिन संध्या-आरती के उपरान्त माँ, योगेन-माँ आदि लेटी हुई थीं। माँ को थोड़ी तन्द्रा-जैसी आ गयी थी। सहसा वे कह उठीं, "योगेन, पूर्ण का देहान्त हो गया क्या?" योगेन-माँ इस प्रश्न पर विस्मित होकर कह उठीं, "तुमसे किसने कहा, माँ?" माँ बोलीं, "मैं सो रही थी कि सहसा सुनने में आया, कोई कह रहा था – पूर्ण की मृत्यु हो गयी।" इस पर योगेन-माँ बोली, "हाँ, माँ, आज शाम को वह दुखद घटना हुई। मैंने तुम्हें बताया नहीं था।" उस रात माँ केवल पूर्ण बाबू के बारे में ही बोलती रहीं और उनके लिए शोक व्यक्त करती रहीं।

दक्षिणेश्वर में ठाकुर की बीमारी के समय माँ उनकी सेवा कर रही थीं। बाद में भक्तगण उनकी चिकित्सा हेतु उन्हें कलकत्ते ले गये। उस समय गोलाप-माँ ने एक दिन बातों बातों में योगेन-माँ से कहा था, "देखो योगेन, ठाकुर लगता है माँ के ऊपर नाराज होकर कलकत्ते चले गये।" योगेन-माँ से वह बात सुनकर माँ गाड़ी में चढ़कर कलकत्ते गयीं और ठाकुर के पास रोते हुए बोलीं, "तुम मेरे ऊपर नाराज होकर चले आये हो न?" ठाकुर बोले, "नहीं जी, किसने तुमसे यह बात कही है?" माँ ने कहा, "गोलाप ने बताया।" इस पर ठाकुर ने नाराज होकर कहा, "ओह, तो उसने तुम्हें ऐसी बात कहकर रुलाया है? क्या वह जानती है कि तुम कौन हो? गोलाप कहाँ है? उसे यहाँ आने दो।"

माँ इस पर शान्त होकर दक्षिणेश्वर लौट आयीं। बाद में जब गोलाप-माँ ठाकुर के पास आयीं, तो उन्होंने उन्हें खूब डाँटते हुए कहा, "तुमने क्या कहकर उसे रुला दिया? क्या तुम नहीं जानती कि वह कौन है? अभी जाकर उससे क्षमा माँगो।" गोलाप-माँ तत्काल पैदल चलकर दक्षिणेश्वर गयीं और माँ के सामने रोते हुए बोलीं, "माँ, ठाकुर मेरे ऊपर बड़े नाराज हो गये हैं। मैंने बिना समझे-बुझे तुमसे ऐसी बात कह दी थी।" माँ ने बिना कुछ कहे केवल हँसते हुए "ओ गोलाप, ओ गोलाप, ओ गोलाप" कहकर उनकी पीठ पर तीन धौल लगाया और इसके साथ ही गोलाप-माँ का सारा दुःख न जाने कहाँ चला गया और उनका मन शान्त हो गया। यह घटना गोलाप माँ ने स्वयं ही मुझे सुनाया था!

पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) बेलूड़ मठ में दुर्गापूजा करने वाले थे। इसीलिए वे माँ को वहाँ ले गये थे। माँ मठ के उत्तर की ओर के उद्यान में थीं। रात में एक भक्त-महिला सहसा माँ के पास जा पहुँचीं। माँ ने उनका आग्रह देखकर कहा, "देखो, इस तरह का आकर्षण हुए बिना भी क्या उन्हें पाया जा सकता है।"

१९१८ ई. में गोलाप-माँ को भयानक बीमारी हुई। उसी समय मैंने देखा कि माँ ठाकुर से प्रार्थना कर रही हैं, "ठाकुर, गोलाप को ठीक कर दो। गोलाप, योगेन यदि न रहें, तो फिर मेरा यहाँ रहना नहीं हो सकेगा। उनके चले जाने पर मैं भला कैसे रह सकूँगी?" इसके बाद वे बोलीं, "योगेन तथा गोलाप मेरे जीवन की सारी अवस्थाओं को जानती हैं। अहा, गोलाप में कोई विकार नहीं है, अभिमान जैसा उसमें कुछ भी नहीं है। फिर योगेन भी वैसी ही है। उन दिनों योगेन ऐसा ध्यान करती थी कि आँख में मक्खी घुसकर बैठी रहे तो भी उसे होश नहीं रहता था। अहा, उनके पक्ष में जो लोग उनकी प्रशंसा करेंगे, उनका कल्याण होगा।"

माँ के एक भक्त की उच्छृंखलता के कारण एक दिन योगन-माँ ने माताजी से कहा था, "माँ, तुम उसे थोड़ा सावधान कर दो, नहीं तो बिगड़ जायेगा।" माँ बोलीं, "मेरे कहने से नहीं होगा, योगेन। मैं यदि उसे कुछ कहूँ, तो वह सुन नहीं सकेगा। मैं उसकी गुरु हूँ; वह यदि मेरी बात मानकर न चल सके, तो उसका अहित होगा।"

एक दिन तीसरे पहर माँ बैठी थीं। इधर उधर की बातों के बाद वे कहने लगीं, "देखो, सब लोग कहते हैं कि मैं 'राधू' 'राधू' कहकर परेशान हूँ और उसके ऊपर मेरी बड़ी आसक्ति है! परन्तु यह आसक्ति भी यदि न रहती, तो फिर ठाकुर के देहत्याग के बाद यह (मेरा) शरीर नहीं रह पाता। अपने कार्य के लिए ही उन्होंने 'राधू' 'राधू' कहलाकर इस शरीर को रख छोड़ा है। जब उसके ऊपर से मन उठ जायेगा, तब फिर यह शरीर नहीं रहेगा।"

❖ (क्रमशः) ❖

ब्रह्मचर्य की महिमा (२)

स्वामी त्रिगुणतीतानन्द

(अमेरिका में अपने दिग्विजय-अभियान की समाप्ति के बाद स्वदेश लौटकर युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने १ मई १८९७ ई. के दिन कोलकाता में स्थित बलराम-मन्दिर में भगवान श्रीरामकृष्ण देव के समस्त संन्यासी तथा गृही शिष्यों की एक सभा बुलाई और भारत एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण को ध्यान में रखकर 'रामकृष्ण मिशन समिति' नाम से एक अभिनव संघ का गठन किया। उसके बाद से उसी स्थान पर प्रति सप्ताह संघ की बैठकें हुआ करती थीं, जिनमें अन्य चर्चाओ के साथ ही धर्मचर्चा भी हुआ करती थी। कुछ ऐसी ही चर्चाओं के विवरण हम त्रैमासिक 'विवेक-ज्योति' के १९९७ के दो अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। १८९८ ई. की ऐसी ही एक साप्ताहिक सभा में श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी ने बँगला भाषा में 'ब्रह्मचर्य' पर प्रस्तुत निबन्ध पढ़ा था, जो बाद में पाक्षिक 'उद्बोधन' के चौथे वर्ष में प्रकाशित हुआ था। निबन्ध के महत्त्व को देखते हुए १९२३ ई. में इसे एक लघु पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित किया गया। उसी पुस्तिका से इसका हिन्दी अनुवाद किया है ब्रह्मचारी नित्यशुद्धचैतन्य जी ने, जो सम्प्रति इसी आश्रम के अन्तेवासी हैं। – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

कोई कोई कहते हैं कि विवाह तथा सन्तान-उत्पत्ति आदि न करने से कई तरह के ऋणों से बद्ध रहना पड़ता है और मुक्ति भी नहीं होती है। इस विषय में भागवत (११/५/३७) में ऋषभदेव के पुत्र श्रीकर-भाजन राजर्षि जनक को कहते हैं –

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्।।

– जो व्यक्ति कर्मत्याग करके सर्वतोभावेन मुकुन्ददेव की शरण लेता है, उस पर देव-ऋषि-प्राणी-कुटुम्ब-मनुष्य और पितरों में से किसी का भी कोई ऋण बाकी नहीं रह जाता।

महाभारत के मोक्षधर्म में नारद ऋषि शुकदेव को कहते हैं – **परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।** अर्थात् हे तात्, विवाह न करके जितेन्द्रिय बनो।

ईसा मसीह कहते हैं – "And there be eunuchs who have made themselves eunuchs for the kingdom of heaven's sake." (Mathew-19.12) – "और कुछ ऐसे भी नपुंसक हैं, जिन्होंने स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति के लिए अपने आपको नपुंसक बना लिया है।"

'ब्रह्मचारी' से हम लोग और क्या समझते हैं? ब्रह्मचारी से हम समझेंगे – जिसके हृदय में दया है। जो ब्रह्मचारी हैं, वे अवश्य ही दयावान होंगे। परमहंस देव के जीवन में, हमने सुना है कि एक बार वे घास के ऊपर से जा रहे थे; जाते-जाते उन्होंने पीछे मुड़कर देखा कि जिस घास पर से उन्होंने पैर उठा लिया है, वे दलित घास अत्यन्त कष्टपूर्वक पुनः उठकर खड़े हो रहे हैं। यह देखकर परमहंस देव रोते-रोते सोचने लगे – इनमें भी प्राण है, इन्हें कितनी पीड़ा हो रही है। उसके बाद से वे फिर कभी घास के ऊपर नहीं चल पाते थे।

किसी अन्य समय एक व्यक्ति उनके सम्मुख एक नये कपड़े का थान फाड़ रहा था, उसे देखकर वे आतंकित होकर बोल उठे – "अहा! मानो मेरा सीना फाड़ दिया; अहा! जुड़ा हुआ था, उसे तूने अलग कर दिया।"

सच्चे ब्रह्मचारियों के हृदय में ऐसी ही दया होनी चाहिए। ब्रह्मचारियों के अन्य गुण बताता हूँ – वे अतीव क्षमाशील होते हैं और सत्यभाषी, मधुरभाषी और अहिंसा आदि गुणों से युक्त होते हैं। वे लोग साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होते हैं अर्थात् विवेकी, वैराग्यवान्, मुमुक्षु तथा पूर्वकथित शम-दम-आदि से युक्त होते हैं और वे काम तथा क्रोध को संयमित करते रहते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि अविवाहित जीवन बिताने से विभिन्न प्रकार के रोग होते हैं। यह गलत है। डॉ. निकोलस कहते हैं – "It is a medical – a physiological fact that the best blood in the body goes to form the elements of reproduction, in both sexes. In a pure and orderly life, this matter is absorbed. It goes back into the circulation ready to form the finest brain, nerve and muscular tissue. This life of man, carried back and diffused through his system, makes him manly, strong, brave, heroic. If wasted, it leaves him effeminate, weak and irresolute, intellectually and physically debilitated, and a prey to sexual irritation, disordered function, morbid sensation, disordered muscular movement, a wretched nervous system, epilepsy, insanity and death." – अर्थात् "रक्त के सार भाग से शुक्र निर्मित होता है। जो लोग विवाह नहीं करते, उनके शरीर में यह पदार्थ पुनः रक्त में मिलकर उत्कृष्ट मस्तिष्क, स्नायु और मांसपेशियों को गठित करता रहता है और पूरे शरीर में व्याप्त होकर उस व्यक्ति को उद्यमशील, साहसी और वीर्यशाली बनाता है। और जो लोग इस शुक्र को नष्ट करते हैं, वे क्रमशः हतवीर्य होकर मूर्च्छारोग से ग्रस्त होकर उन्मत्त हो जाते हैं और अन्त में मृत्यु के मुख में पतित होते हैं।" भगवान शिव कहते हैं –

न तपस्तप इत्याहु ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
उर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।।
– ज्ञानसंकलिनी तंत्र

– अर्थात् तपस्या को ही तपस्या नहीं कहते; ब्रह्मचर्य ही उत्तम

तपस्या है। जो ऊर्ध्वरेता होता है; वह नर नहीं, देवता है।

हम सभी लोग प्राय: अपने चारों ओर देखते हैं कि जो लोग इन्द्रियों के दास तथा कुकर्मी हैं; वे कितने दुर्बल, क्षीणचित्त तथा क्षीण मनवाले हो जाते हैं और वे लोग कितने दु:ख-भोगी तथा निरानन्दमय हो जाते हैं! और देखो – जो पुण्यवान हैं, जितेन्द्रिय हैं; वे कितने नीरोग होते हैं। उनमें कितना तेज, कितना बल और कितना साहस होता है; और उन लोगों को कितना आनन्द भी होता है!

परमहंस देव कहा करते थे – जो व्यक्ति नारी-त्याग कर सकता है, वह संसार का त्याग कर सकता है, अर्थात् जो इन्द्रिय-सुख की इच्छा का त्याग कर सकते हैं, उनके लिये संसार में और क्या त्याग करना बाकी है? जिन्होंने समस्त इन्द्रिय-सुखों का त्याग किया है, जिनका मन इन्द्रियों के मार्ग पर दौड़ता नहीं, जिनके हृदय में महामाया और तरंग नहीं उठा सकती है; तो समझ लीजिए कि उस शान्त हृदय में अब ब्रह्म की छाया पड़ने में अधिक विलम्ब नहीं है। समझ लीजिए कि भगवान उस अकिंचन से ज्यादा दूर नहीं रहते; भक्तवत्सल हरि उनके सामने प्रकट हुए बिना नही रह सकते हैं। तब उन भक्त को प्रत्येक रोमकूप में परम आनन्द की अनुभूति होती रहती है। उन्हें इतने अकल्पनीय सुख का अनुभव होता है कि वे बाह्य ज्ञान खो बैठते हैं। वे समाधिस्थ हो जाते हैं, वे अविच्छिन्न तेलधारा के समान उस नित्य सुख का भोग करते रहते हैं। उस परम सुख की आशा करने के लिए, उस नित्य सुख की प्राप्ति के लिए इस महत् दु:ख के आगार-स्वरूप, इन अनित्य क्षणिक इन्द्रिय-सुखों की लिप्सा का त्याग करना पड़ता है, पूरी तौर से त्याग करना पड़ता है; दो-एक दिन के लिये कपट-संयम करने से काम नहीं चलेगा, हृदय से कामना के मूल को पूर्ण रूप से निकालकर फेंक देना पड़ता है। तब पायेंगे कि पहले आप एक सामान्य इन्द्रिय से क्षणिक सुख का भोग कर रहे थे, परन्तु अब सर्वांगों से कोटि इन्द्रिय-सुखों का भोग कर रहे हैं – वह परम सुख प्रत्येक रोमकूप से शरीर के भीतर प्रवेश कर रहा है। वह परम सुख आपके शरीर को ओतप्रोत भाव से आच्छादित कर डालेगा। तब आपका शरीर सुखमय हो जायेगा और तब सुखमय शरीर सुख-सागर में तैरता रहेगा। तब यह लौहमय निकृष्ट शरीर उस पारसमणि के स्पर्श से स्वर्णमय देवशरीर में परिणत हो जायेगा। तब आप देवता हो जायेंगे, देवताओं के भी पूज्य हो जायेंगे।

हाय! भ्रमित मानव ऐसे नित्यसुख की अवहेलना कर एक क्षणिक जघन्य पैशाचिक सुख की आशा में उन्मत्त होकर घूम रहा है; परन्तु अपने कल्याण की ओर ध्यान नहीं दे रहा है।

हमने कितनी बार कितने प्रकार से जन्म-ग्रहण किया, कितने करोड़ जन्म लिये। परन्तु किसी भी जन्म में तो धन्य होने लायक जन्म नहीं लिया। किसी भी जन्म के अन्त में एक बार भी अपने कल्याण के लिये मुड़कर नहीं देखा!

अनन्त काल की तुलना में एक जन्म तो कुछ भी नहीं है। उन अनन्त जन्मों में से हम एक जन्म को भी ईश्वर के पादपद्मों में अर्पित नहीं कर सके! हमने इतनी बार जन्म लिया, परन्तु किसी भी जन्म में जगदीश्वर के शरणागत नहीं हुए!

शरणागत होने में कोई दीर्घ काल नहीं लगता; उनके पादपद्मों में जीवन समर्पित करने में एक जन्म भी तो नहीं लगता, यहाँ तक कि एक मुहूर्त भी नहीं लगता, केवल इच्छा भर होनी चाहिए। यह इतना सहज है, तो भी हम उसे नहीं कर पाते।

ओह! कैसी उल्टी गति है! थोड़ा-थोड़ा चलकर हम घने जंगल के कितने भीतर आ पहुँचे हैं। इस उल्टी अनुचित गति को रोकिए। इस उल्टी गति को रोकिए।

अब भी समय है, अब भी उपाय है। लौट आइए; अब और अनुचित उल्टी दिशा की ओर मत बढ़िए। आत्महत्या मत कीजिये और अन्य लोगों को भी मत मारिये। अपनी रक्षा कीजिए और जगत् के हित की कामना कीजिए।

देखो, तुम्हारे सिरहाने ही रावण के चूल्हे की भाँति श्मशान निरन्तर धू-धू कर जल रहा है। पिता को हम रख आये; स्नेहमयी माता को भी ले गये; पत्नी गयी; बन्धु-बान्धव गये; परम प्रिय पुत्र को भी हम जला आये! तो भी चेतना नहीं आई! अब भी इन्द्रियों का दासत्व नहीं छूटा। स्वयं तो हम इन्हें छोड़ ही नहीं सके; फिर अपने छोटे-छोटे बच्चों – पुत्र-कन्याओं को भी उन्हीं इन्द्रियों की दासता में लगा रहे हैं। अत्यन्त शैशवावस्था से ही उन्हें विवाह-शृंखला में बाँध दे रहे हैं, फिर यदि वे स्वयं न जायँ, तो माँ-बाप उन्हें बलपूर्वक शयनागार में प्रवेश करा दे रहे हैं।

अहा! वे अपने छोटे पुत्र-पुत्रियों को राक्षस-राक्षसिनियों के मुख में फेंक दे रहे हैं। कैसा बीभत्स कृत्य है यह! क्या इससे भी बढ़कर कोई पैशाचिकता हो सकती है?

क्रमश: पाप-संसार की वृद्धि हो रही है। पृथ्वी पाप से पूर्ण होती जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि माँ वसुन्धरा पिशाचों का भार वहन करने में अक्षम होकर ही इतने जोरों से काँप उठती हैं। अपने वक्षस्थल पर इस पैशाचिक वृत्ति को देखकर ही सम्भवत: उन्होंने दीर्घ नि:श्वास लेकर चटगाँव को उड़ा दिया। अब वे अपने वक्षस्थल पर हम लोगों को जगह नहीं दे रही हैं, इसीलिए सबको गाँव छोड़कर पलायन करना पड़ रहा है। और भी न जाने कितना हम लोगों के भाग्य में लिखा है।

अब भी समय है, अब भी उपाय है। अब भी ब्रह्मचर्य का आश्रय लीजिए। एकमात्र ब्रह्मवीर्य, एकमात्र ब्रह्मतेज के बिना और कोई रक्षा नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य का मुख्य लक्षण है

– विवेक-वैराग्य और उसके साथ इन्द्रिय-संयम। जिनके मन में इच्छा है, उनके लिये इन्द्रिय-संयम ज्यादा कठिन नहीं है।

नारियों के प्रति मातृभाव ही इन्द्रिय-दमन करने का एकमात्र मुख्य उपाय है। आप लोग बचपन से ही महिलाओं को दूसरी दृष्टि से देखना सीखते आ रहे हैं। उन्हे कभी हृदय से 'माँ' कहकर नही पुकारा, इसी कारण इन्द्रिय-दमन इतना कठिन हो रहा है। आप स्वयं तो निम्न-पथ-गामी हो ही गये हैं, अब अपनी सन्तानों को भी ठेलकर उसी अधोपथ पर मत भेजियेगा। पुत्र को जन्म देना बड़ा आसान है, परन्तु उसका पालन-पोषण बड़ी जिम्मेदारी का कार्य है। लड़का यदि बिगड़े, तो निश्चित रूप से समझ लीजिएगा कि पहले माँ-बाप को ही महापाप में डूबना पड़ेगा। सारा उत्तरदायित्व माता-पिता का है।

मानव का कर्तव्य है – सर्वप्रथम स्वयं का निर्माण करना और यह सीख लेना कि किस प्रकार सन्तान को शिक्षा दी जाती है, किस प्रकार उनके जीवन का निर्माण किया जाता है, उसके बाद सन्तान आदि उत्पन्न करने से कोई दोष नहीं है। इसीलिए ब्रह्मचर्य आश्रम ही सभी आश्रमों में प्रथम आश्रम है और अवश्य आचरणीय है। बच्चों को तो आप अनेकों प्रकार की विद्याएँ सिखाते हैं; उनमें क्यों न एक इन्द्रिय-दमन की विद्या भी सिखाई जाय। उससे महान् उपकार तो होगा ही, जरा-सी भी क्षति नहीं होगी। संसार में जितनी भी विद्याएँ हैं, उनमें इन्द्रिय-दमन एक महाविद्या है।

जब तुमने स्वयं ही इन्द्रिय-दमन करना नहीं सीखा, तो फिर अपने बच्चों को क्या सिखाओगे? इसीलिये कहता हूँ कि पहले तुम लोग स्वयं इस महाविद्या को सीखो और इसके साथ-ही-साथ बच्चों को भी इसे जी-जान से सीखाओ। उसी आयु से वीरों का निर्माण करते रहो। Spartan Mother – जैसे स्पार्टा देश की माताएँ अपने-अपने पुत्रों को वीरता सिखाती थीं, वैसे ही आप लोग भी सिखाएँ। वीर-प्रसविनी भारतमाता आज वीरशून्य हैं। इसीलिए इसकी आज इतनी दुर्दशा हो रही है। परन्तु भयभीत होने की कोई जरूरत नहीं। फिर से ब्रह्मचर्य को पुनरुज्जीवित करो। पुन: उसी सनातन ब्रह्मतेज का पुनरुद्दीपन करो। इस संकट की घड़ी में ब्रह्मतेज के बिना अन्य कोई गति नहीं है।

सब प्रकार की निम्न प्रवृत्तियों का त्याग कर दो। मन को ऊपर की ओर उठाये रखो। मन को मूलाधार से – निम्न भूमि से अनाहत या सहस्रार में खींच लो। स्त्रीमूर्ति देवीमूर्ति है – साक्षात् देवीमूर्ति – ईंट, काठ या मिट्टी की नहीं, वरन् साक्षात् चैतन्यमयी का चिन्तन करो। हमारी माँ साक्षात् ब्रह्ममयी हैं। अब भी आँखें नहीं खुलीं? देखो, देखो, हमारी माँ साक्षात् जगदम्बा हैं। जी भर कर देख लो। बाहर देखो, भीतर देखो। बाहर देखो और हृदय में देखो। देखकर उन्हें उठाकर मस्तक पर रख लो। खूब यत्नपूर्वक सहस्रार में, ब्रह्मरन्ध्र में रख लो।

परन्तु सावधान! मन को कभी नीचे मूलाधार में न उतरने देना। मन को कभी अधोगामी मत होने देना। वैसा होने पर सर्वनाश – अनन्त नरक समझना। कीट-पतंग बनकर अग्नि में छलाँग मत लगाना। हमारी माँ साक्षात् देवी हैं। सभी स्त्री-मूर्तियाँ ही हमारी माँ हैं। खबरदार! अपनी माँ को अन्य दृष्टि से मत देखना, नहीं तो अनन्त नरक होगा। जिस प्रकार देवी-मूर्ति देखते ही प्रणाम करने की इच्छा होती है, पूजा करने की इच्छा होती है, माँ से प्रार्थना करने की इच्छा होती है, उसी प्रकार स्त्री-मूर्ति देखते ही हम लोगों के अन्तर में भक्ति का उद्दीपन होना चाहिए, तत्काल प्रणाम करने की इच्छा जाग्रत होनी चाहिए। महिलाओं को कभी रमणी या कामिनी नहीं, देवी की प्रतिमूर्ति ही समझना। पहले के समस्त कुसंस्कारों को बलात् खींचकर फेंक डालो। पहले के कुसंस्कारों को शैतानप्रसूत और आसुरी समझो। इसी क्षण हृदय-गह्वर से पंक की सफाई करके उसकी जगह नये संस्कारों की स्थापना करो। शंकराचार्य कहते थे – **द्वारं किमेकं नरकस्य** – नरक का एक द्वार क्या है? – नारी। देखो, कहीं स्त्रियों को इस दृष्टि से न देखना कि जिससे हृदय एक नरक-कुण्ड बन जाय। स्त्रियों को ऐसी दृष्टि से देखो, जिससे हृदय के पंक को निकालकर, उसमें देव-मन्दिर की स्थापना कर सको। आसुरी-वृत्ति की जगह शम-दमादि दैवी सम्पत्ति लेकर उस हृदय-कन्दरस्थ देव-मन्दिर में पूजा के लिये प्रवेश करो। जो लोग पिशाचिनी की उपासना कहना चाहें, जो पिशाचसिद्ध होना चाहें, उन्हें नरक में जाने दो। यहाँ पर उनके लिए कोई स्थान नहीं है। जान लो कि उन्हें भारत से अविलम्ब पलायन करना होगा। भारत में चिरकाल तक देवताओं का निवास रहेगा। भारत पिशाचों का विनाश करके पुन: नयी सृष्टि बना लेगा। इसीलिए कहता हूँ कि पैशाचिक वृत्ति का त्यागकर सद्‌वृत्ति की उपासना करो। दिन-पर-दिन ब्रह्मचर्य की वायु का सेवन करते रहो, वह वायु तुम्हारी प्रत्येक अस्थि-मज्जा में प्रवेश कर, शरीर का शोधन करके समस्त सात्विक वृत्तियों का उद्रेक कर डालेगी। यदि हिन्दू हो, यदि शास्त्र मानते हो, यदि ईश्वरान्वेषण की इच्छा तथा अपने हित की कामना रखते हो और यदि स्वदेश-हित की भी कामना हो, तो ब्रह्मचर्य-पालन में भूल मत करना। ❑
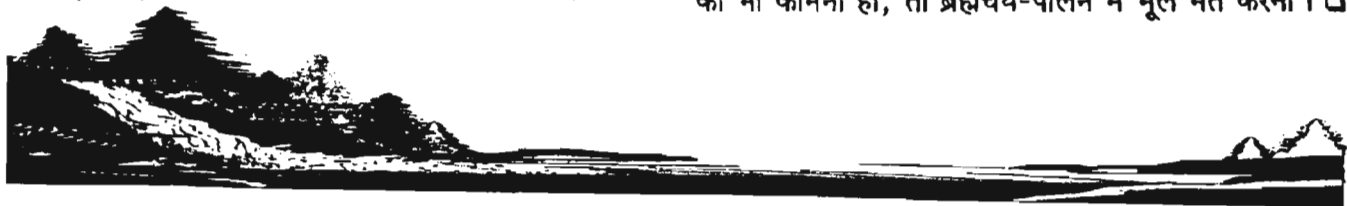
देशभक्ति की सीढ़ियाँ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

देशभक्ति का अर्थ वैसे तो स्पष्ट है, पर उसकी मूल भावना को जीवन में उतारने के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के विचार इतने सटीक और प्रेरक हैं कि वे देशभक्ति के यथार्थ मर्म को उद्घाटित करके रख देते हैं। वे कहते हैं – ''लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की जरूरत होती है। पहला है हृदय – अनुभव की शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या धरा है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय? – हृदय तो महाशक्ति का द्वार है; अन्तःस्फूर्ति वहीं से आती है। प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है।''

इतना कहकर वे सम्बोधित करते हुए कहते हैं, ''अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको! मेरे भावी देशभक्तो! तुम हृदयवान बनो। ... क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर द्रवित हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो तुम अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुधि बिसार चुके हो? क्या सचमुच तुम ऐसे हो गये हो? तो जानों कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है - हाँ, केवल पहली सीढ़ी पर!

स्वामी विवेकानन्द देशभक्ति का पहला सोपान बताकर दूसरे सोपान की चर्चा करते हुए कहते हैं – ''अच्छा माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? क्या लोगों को गाली न देकर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है? - यही दूसरी बात है।''

पर विवेकानन्द यहीं पर नहीं रुकते। वे देशभक्ति की तीसरी कसौटी बताते हुए कहते हैं – ''पर केवल इतने से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या जिसे तुम सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुरुष तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्यलक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जायँ, नाम-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? ... क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? – बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है। तब फिर तुम्हें समाचार-पत्रों में छपवाने की अथवा व्याख्यान देते हुए फिरते रहने की आवश्यकता न होगी, स्वयं तुम्हारा मुख ही दर्पण हो जायेगा।''

स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित देशभक्ति के ये तीन सोपान हमारे लिए मननीय हैं। अपनी देशभक्ति को कसौटी पर कसने हेतु ये हमारे लिए निकष का काम करते हैं। ये हमारे नेत्रों को खोलने के लिए अंजन-स्वरूप हैं तथा आज के स्वार्थान्धकार आच्छन्न परिवेश में दीप-स्तम्भ के समान हैं।

जीना सीखो (२०)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। यह लेखमाला की अन्तिम कड़ी है। अगले अंक से हम उसी पुस्तक के दूसरे भाग का अनुवाद देना आरम्भ करेंगे। – सं.)

बच्चों का पालन-पोषण

सी. सुखोम्लिन्स्की बाल-शिक्षा के एक रूसी विशेषज्ञ हैं। उन्होंने बच्चो के साथ रहकर तथा गहराई के साथ उनका निरीक्षण करते हुए उनके विकास तथा शिक्षा का व्यावहारिक अध्ययन किया और इस प्रकार लाखों बालकों के जीवन में प्रकाश लाने में सहायता की। मैं उसके अनुभव-सूचक कुछ शब्दों का सारांश दे रहा हूँ। ये ऐसे विचार हैं, जो बच्चों की शिक्षा में रुचि लेनेवाले किसी के लिए भी स्मरणीय हैं –

"यदि बालक को अपने कार्य में सफलता की कोई आशा न दिखे, तो ज्ञान के लिए उसकी पिपासा कुण्ठित हो जायेगी, और एक ठण्ढी कटुता उसके हृदय को जकड़ लेगी। कोई भी प्रयास उसे इस जकड़न से छुटकारा नहीं दिला सकेगा; जब तक कि एक बार फिर उसमें जिज्ञासा की चिनगारी जाग नहीं उठती (और इसे फिर जगाना अति कठिन कार्य है); बच्चा अपनी क्षमता में आत्मविश्वास खो बैठता है, सीपी के समान अपने खोल में सिमट जाता है, परेशान व चिड़चिड़ा हो जाता है; और तब उस पर अध्यापकों की बातों या डाँट का कोई असर नहीं होता। और इससे भी बुरा है उसके आत्म-सम्मान का भाव टूट जाना तथा स्वयं को अयोग्य समझना। जब मैं किसी ऐसे उदासीन निष्क्रिय बालक को देखता हूँ, जो घण्टों शिक्षक के उपदेश सुनता है, पर पिछड़ जाने पर साथियों के व्यंगों को नहीं सुनता, तो मुझे बड़ा क्रोध आता है। किसी के आत्म-सम्मान को नष्ट करना सबसे बड़ा अनैतिक काम है।

"जहाँ सफलता से उत्पन्न प्रेरणा सक्रिय हो, वहीं सीखने की रुचि देखने में आती है।" मैं एक छात्र को जानता हूँ, जिसने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास करने के बाद कॉलेज में प्रवेश लिया और अध्ययन के विषय के रूप में वाणिज्य का चयन किया। मैंने पूछा, "पढ़ाई कैसी चल रही है?" बह बोला, "बड़ा ऊबाऊ लगता है, स्वामीजी! कक्षा के अन्य छात्र बड़ी जल्दी बैलेंस-शीट बना लेते हैं, पर मैं परेशान हो जाता हूँ और सोचता हूँ मैंने यह विषय चुना ही क्यों? इससे तो मर जाना अच्छा था।"

इस प्रकार हताशा व्यक्त करने पर मैंने उसके दिल में थोड़ा-सा साहस भरने का प्रयास करते हुए कहा, "मत भूलो कि तुम वही छात्र हो, जिसने पिछली परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। तुम अन्य छात्रों की पृष्ठभूमि, योग्यता, प्रशिक्षण आदि के बारे में नहीं जानते; अत: उनके साथ अपनी वर्तमान अवस्था की तुलना करके हताश होने की जरूरत नहीं। नीचे से शुरू करके एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए ऊपर तक पहुँचना सम्भव है। इस चुनौती को स्वीकार करो!" बाद में स्नातक की परीक्षा वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। पर शुरू में वह अपने सहपाठियों की उत्तम उपलब्धियों को देख घबड़ा गया था। हमारे छात्रों को परीक्षा का सामना करने की कला कब सिखाई जानी चाहिए? यह प्रारम्भ से ही सिखाई जानी चाहिए।

विश्वास का उपहार – ज्ञान

भारत में लोग क्यों मुख्य मार्ग को छोड़ शार्ट-कट अपनाते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि अशिक्षितों की तुलना में शिक्षित लोग अधिक ईमानदार तथा निष्ठावान हैं? इस चारित्रिक संकट के क्या कारण है? कुछ तो स्पष्ट हैं – यथा बचपन से ही ढोया जानेवाला पराजय का भाव, छोटी-मोटी सफलताओं के भी अनुभव का अभाव, आत्मविश्वास की कमी, भविष्य की आशंका, सुरक्षा का अभाव, सिनेमा संस्कृति से उत्पन्न बिना परिश्रम के ही अति धनाढ्य बनने का स्वप्न। ये सारे तत्त्व उनके आत्मविश्वास को काफी क्षति पहुँचा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने बारम्बार आत्मविश्वास के विकास पर बल दिया है। वे कहते हैं, "आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत होता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितने दु:ख और बुराइयाँ हैं, उनका अधिकांश गायब हो जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है, तो वह आत्मविश्वास ही है। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। मनुष्य कितनी भी निकृष्ट अवस्था में क्यों न पहुँच जाय, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह उससे बेहद दुखी होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और स्वयं में विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्मविश्वास को सीखने के लिए इतने कटु अनुभव क्यों प्राप्त करें? मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है, वह बस आत्मविश्वास के होने तथा उसके अभाव के ही कारण ही है, यह बात सरलता से समझ में आ जाती है। इस आत्मविश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है।"

हममें से प्रत्येक के भीतर अनन्त शक्तियाँ छिपी हैं। परन्तु अपनी सीमित कल्पना के कारण ही इस प्रकार आचरण करते हैं मानो हमने स्वयं को आलस्य के लिए सम्मोहित कर लिया हो। आत्मविश्वास हमारे उत्साह के भाव को सक्रिय करके हमें जीवन में महा-उपलब्धियों के मार्ग पर ले जाता है।

जीवन के लिए आलोक

जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप तथा चरित्र को नहीं पहचान लेते, तब तक हम अपनी प्रगति में बाधक होते रहेंगे। यह अध्याय पढ़नेवालों को इस सत्य पर विश्वास हो जायेगा।

दिव्यता हमारे भीतर विद्यमान है। अपने में निहित इस दिव्यता की अनुभूति करने हेतु हम जो प्रयास करते हैं तथा जिन सिद्धान्तों पर चलते हैं, उन्हीं में मन को सुव्यवस्थित करने तथा समाज के विभिन्न घटकों के बीच सद्भाव स्थापित करने का रहस्य छिपा है। यही सभी धार्मिक साधनाओं का मूल है। जैसे किसी किले की छत पर पहुँचने के लिए पहले नीचे की सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं; वैसे ही उत्कृष्ट तथा आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधारण इच्छाओं एवं प्रलोभनों को जीतना होगा। सत्य की प्राप्ति के लिए मिथ्या का त्याग करना होगा। भले की प्राप्ति के लिए बुराई का और नित्य की प्राप्ति के लिए अनित्य का त्याग करना होगा। अपने वास्तविक स्वरूप तथा लक्ष्य रूपी दिव्यता की अनुभूति करने हेतु अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करनी होगी। क्रमश: हमें अपने बाह्य जगत् की क्रियाओं को घटाना होगा। आध्यात्मिकता की प्राप्ति तथा जीवन के कर्मों पर एक साथ ही मन को एकाग्र करना सम्भव है। यही आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग है। एक बार स्वामी विवेकानन्द से बड़े संक्षेप में सनातन धर्म की परिभाषा बताने को कहा गया था। उन्होंने केवल दो शब्द कहे, 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति'। शास्त्रों द्वारा निर्धारित आचार-नियमों के ठीक पालन से ईश्वर के राज्य में जीवन की महिमा तथा सुख का भोग करना सम्भव है। त्याग एवं सेवा के मार्ग पर चल कर भी असीम शान्ति और आनन्दघन ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।[१]

जो व्यक्ति आत्मा की शक्ति में विश्वास करके जीवन में आगे बढ़ता है, उसकी मनोवृत्ति क्या होती है? वह सभी का कल्याण चाहता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मूलत: परमात्मा का ही अंश है। सम्भव है कि यह आत्मा सबमें व्यक्त होने का मार्ग न पा सकी हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी लोग उस दिव्य ज्योति के समुद्र रूप परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। मानव हो या पशु या कोई अन्य भौतिक वस्तु – सभी उस दिव्य आत्मा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी स्तर का क्यों न हो, हमारे आदर, विश्वास तथा प्रेम का पात्र है। लोग अपने दिव्य उद्गम तथा अपने मूलभूत दिव्य स्वरूप से अनभिज्ञ हो सकते हैं; उनका आचरण घृणित तथा पशुवत् हो सकता है, परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऐसा वे अज्ञानवश ही करते हैं।

हम अपने भीतर, अपनी क्षमता के अनुरूप दूसरों की सहायता करने की मनोवृत्ति को विकसित तथा सबल कैसे करें? हममें यह विश्वास होना चाहिए कि बाह्य दृष्टि से रंग, रूप, जाति, मत आदि की भिन्नता होते हुए भी सभी लोगों के भीतर उसी दिव्यता की चिनगारी निहित है। जो लोग स्वयं में निहित दिव्यता से अनभिज्ञ हैं, उनके प्रति भी हमें सम्मान दिखाना होगा। हमें उनकी मंगल-कामना करनी होगी और उनकी भलाई के लिए प्रयास करना होगा; भले ही वह व्यक्ति हत्यारा हो या चोर, सन्त हो या महात्मा। सबके लिए मंगल-कामना से ही सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति प्रकट होती है। ऐसा न हो कि यह सद्भाव केवल भले लोगों के लिए ही हो और कम भले लोग इससे वंचित हो जायँ। इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि हम दुष्टों के जाल में फँस जाएँ या फिर अपराधियों को बिना दण्ड के ही छोड़ दिया जाय। इस नए भाव के द्वारा हम दण्ड को बदला निकालने का नहीं, बल्कि भूल करनेवाले व्यक्ति के सुधार का साधन समझेंगे। जो व्यक्ति ईश्वर तथा दिव्यता से प्रेम करने का दावा करता है, वह अपने भाई या पड़ोसियो से घृणा नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है कि उसके अपने अन्तर में स्थित ईश्वर ही उसके आसपास के लोगों के अन्तर में भी विद्यमान है। यदि हम सभी प्राणियों के प्रति प्रेम तथा भाईचारे का भाव रखें, तो इसका अर्थ है कि हमें अपने ईश्वर में श्रद्धा-विश्वास का फल मिल रहा है।

सर्व-जन-हिताय

हाल ही में मेरे एक मित्र ने अपने आँखों-देखी एक घटना बतायी। लगभग ५००० लोगों की जनसंख्या वाले एक कस्बे में एक भैंस का बच्चा कुएँ में गिर गया। उस कुएँ के चारों ओर कच्ची या पक्की कोई भी मुड़ेर न थी। कुएँ के चारों ओर केवल लकड़ी की बल्लियाँ भर गड़ी हुई थीं। घर के आँगन में केवल महिलाएँ तथा बच्चे ही उपस्थित थे। भैंस के पाड़े को कुएँ में गिरा देख वे लोग चिल्लाने लगे। आसपास के लोग – शिक्षित लोग वहाँ एकत्र हो गये। उन लोगों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी – "आप लोगों ने भैंस को कब खरीदा था? कहाँ से खरीदा था? कितने में खरीदा था? कुएँ के चारों ओर बल्लियों के लगे रहने पर भी पाड़ा उसमें कैसे गिर गया? कहीं किसी ने उसे कुएँ में ढकेल तो नहीं दिया?" कुछ लोग इस बात पर भी विचार करने लगे कि इस घर के लोग किस राजनैतिक दल से सम्बन्ध रखते हैं? और किस जाति या धर्म के हैं। उनमें से

१. आत्मा की इस अनन्त शक्ति का प्रयोग जड़ वस्तु पर होने से भौतिक उन्नति होती है, विचार पर होने से बुद्धि का विकास होता है और अपने ही पर होने मनुष्य ईश्वर बन जाता है। – स्वामी विवेकानन्द

कुछ लोग उग्र क्रान्तिकारी भी थे, जो देश के उत्थान के लिए छोटे-मोटे सुधारों से सन्तुष्ट न होकर सम्पूर्ण क्रान्ति के पक्षधर थे। परन्तु कुएँ में गिरे हुए पाड़े को निकालने के लिए किसी ने एक उँगली तक नहीं हिलायी। आखिरकार भीड़भाड़ देखकर एक किसान वहाँ आ पहुँचा और कुएँ में उतरकर उसने डूब रहे भैंस के बच्चे को बाहर निकाल दिया। इसके बाद वह चुपचाप चल दिया। चर्चा में जुटे हुए लोग और भी उत्साह के साथ उसी में लगे रहे।

इस घटना के निहितार्थ की व्याख्या आवश्यक नहीं है।

हमें जरूरतमन्दों की सहायता करने की आदत डालनी चाहिए। सामाजिक स्तर का भेदभाव किये बिना अपने पिछड़े भाइयो की सहायता करनेवाला ही मानव का सच्चा हितैषी है। भले लोग बेकार के विधि-विधान नहीं मानते। इसकी जगह वे मित्रता, सहनशीलता, एकता के भाव का विकास करते हैं, जो किसी निर्धारित विधि के अनुसार न भी हों, तो भी प्रबल परम्परा से प्राप्त होते हैं। भले लोग नियमों की सीमाएँ लाँघकर हर परिस्थिति में अपने भाइयों की सहायता की चेष्टा करते हैं। सबके हितार्थ प्रयास करना ही उनका लक्ष्य है।

ईश्वर तथा मानव की सेवा

दिव्यत्व में दृढ़ विश्वास से सेवा-भाव भी उत्पन्न होता है। आज लोग सेवा को महत्त्व नहीं देते। स्वार्थी एवं दुष्ट लोग हर क्षेत्र को बदनाम कर रहे हैं। ईसा ने कहा कि सड़े हुए फल से किसी वृक्ष का मूल्यांकन मत करो। सेवा के सुदृढ़ अनुयायियों से ही हमें इसकी महत्ता तथा गुणवत्ता आँकनी चाहिए। सबके प्रति सद्भाव तथा नि:स्वार्थ प्रेम ही सेवा की विशेषता है। जो लोग प्रगति के शिखर पर हैं, जब वे बिना माँगे सबसे नीचे के स्तरो के लोगों की सहायता करें, तो सेवा का भाव व्यक्त होता है। जब लाभ या उपहार आपस में बाँटे जाएँ और जब सब मिलकर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परिश्रम करें, तब यह व्यक्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति में नि:स्वार्थ प्रेम के दिव्यत्व का प्रकाश है। जब हम बिना लाभ की आशा के दूसरों का भला करें, तब यही व्यक्त होता है। सेवा खुशामद या अपनी प्रशंसा नही चाहती, प्रसिद्धि या विज्ञापन नहीं माँगती। सबके कल्याणार्थ किसी के छोटे-से स्थान में किया गया साधारण-सा कार्य भी सेवा है। कार्य से अधिक महत्त्वपूर्ण उसके पीछे की मनोवृत्ति है। कार्य की विधि और उसका उद्देश्य – दोनों महत्वपूर्ण हैं।

स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों से सेवाभाव का मर्म व्यक्त होता है – "समस्त उपासनाओं का यही सार है कि मनुष्य शुद्ध रहे तथा दूसरों के प्रति सदैव भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव के यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे। जो व्यक्ति पिता की सेवा करना चाहता है, उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए, इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तान की, विश्व के प्राणिमात्र की पहले सेवा करनी चाहिए।"
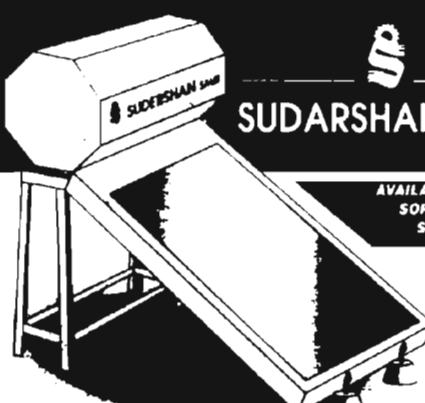
स्वयं में छिपी दिव्यात्मा पर दृढ़ विश्वास विकसित करके, उसकी अनुभूति का प्रयास करते हुए हर व्यक्ति लोकहित की इच्छा, धैर्य, आशा, परिश्रम तथा सेवाभाव रूपी गुणों से सम्पन्न होगा। निस्सन्देह ये गुण व्यक्ति को सर्वमुखी विकास और समाज का सम्पूर्ण विकास के मार्ग पर लगाते हैं।

यदि हमारा अध्ययन, वातावरण व शिक्षा हममें ये गुण लायें, तो हमारा समाज उन्नत होगा। जिस क्षण हम अपने भीतर अनन्त शक्ति का अनुभव करेंगे, उसी क्षण सारी मानव जाति की समृद्धि का प्रभात आ पहुँचेगा। ❖ (क्रमश:) ❖

(लेखमाला की इस कड़ी के साथ पहला भाग पूरा हुआ, अगले अंक से दूसरे भाग का प्रकाशन आरम्भ होगा।)

समय का सदुपयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

मित्रो, वर्तमान के सदुपयोग में ही जीवन की सफलता है, सिद्धि है, सुख है, सार्थकता है। कई बार मन में प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिये है कि ससार के सभी कार्य समय के भीतर ही होते हैं। ससार समय में ही अवस्थित है। समय के बाहर कुछ भी नहीं है। समय ही जीवन है, ससार है; और हम सभी जानते हैं कि समय वर्तमान में और केवल वर्तमान में ही होता है। समय न तो भूतकाल में होता है और न भविष्य में समय केवल वर्तमान में ही है।

भूत स्मृति है और भविष्य कल्पना। कल्पना और स्मृति केवल मानसिक जगत् का कार्य है जीवन का यथार्थ नहीं, यथार्थ तो वर्तमान ही है। जीवन के यथार्थ कार्य वर्तमान में ही किये जा सकते हैं। वर्तमान में ही जीवन को यथार्थ और सार्थक बनाया जा सकता है। अतः जीवन में जो भी करना है उसे वर्तमान में ही आरभ करना होगा। वर्तमान में कार्य आरभ किया नहीं कि जीवन सक्रिय और गतिशील हो उठता है; और हम सभी यह देखते हैं, अनुभव करते हैं कि जीवन वृक्ष का फल सक्रियता एवं गतिशीलता की शाखाओं में ही लगता है। यहाँ एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि वर्तमान का उपयोग कैसे करें? समय का स्वभाव, हमें समय के स्वभाव को ठीक ठीक समझ लेना होगा। समय की जिस ईकाई से हम साधारणतः परिचित हैं, वह है - क्षण या सेकण्ड, इससे बड़ी ईकाई है मिनट। मिनट से हम सब भलीभाँति परिचित हैं तथा हम सभी दैनंदिन जीवन में उसका उपयोग भी करते हैं। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा ध्यान प्रायः मिनट की ओर नहीं जाता तथा हम समय को घटों, दिनों, सप्ताहों, महीनों और वर्षों में पकड़ना चाहते हैं। हम प्रायः सोचा करते हैं कि २ घंटे में कोई पुस्तक पढ़ लेंगे, या कोई पत्र अथवा लेख आदि लिख लेंगे। अगले दिन से या अगले सप्ताह से स्वास्थ्य सुधार के लिये व्यायाम प्रारंभ करेंगे। अगले महीने से किसी विषय विशेष का अध्ययन प्रारभ कर देंगे, अगले वर्ष अमुक कार्य या व्यवसाय में लग जाएँगे आदि।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भविष्य की ये योजनायें तो ठीक हैं, किन्तु इन सभी योजनाओं के लिये वर्तमान में हम कुछ अवश्य कर सकते हैं। हमारे भविष्य की सभी योजनाओं की सफलता हमारे वर्तमान की तैयारी पर निर्भर करती है। भविष्य की सभी योजनाओं का उत्स वर्तमान ही होता है। वर्तमान में हम अपने जीवन को जितना अधिक सयत, व्यवस्थित तथा सुनियोजित करेंगे, भविष्य के कार्य के लिये हम उतने ही अधिक योग्य अधिकारी हो सकेंगे एवं उतनी ही अधिक मात्रा में हमारे भविष्य की योजनाओं की सफलता की सम्भावनायें भी होंगी तथा हम सफल और कृतार्थ भी हो सकेंगे। समय वर्तमान में ही होता है, अतः समय को पकड़ने के लिये, उसका सदुपयोग करने के लिये, सर्वप्रथम हमें समय के सम्बन्ध में सचेत या जागरूक होना चाहिये। समय का सदुपयोग हम इसीलिये नहीं कर पाते, क्योंकि हम उसके सम्बन्ध में सावधान तथा जागरूक नहीं होते हैं। हमें प्रायः समय के बीतने का ध्यान ही नहीं रहता। ध्यान न रहने से हमारा अधिकाश समय व्यर्थ के कार्यों अथवा आलस्य प्रमाद, आदि में ही व्यतीत हो जाता है, और हम उस समय का लाभ नहीं ले पाते। अस्तु, समय के सम्बन्ध में जागरूक रहना होगा।

समय को पकड़ने का, उसका सदुपयोग करने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है – २४ घंटे का एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना। यह कार्यक्रम हर व्यक्ति को अपनी-अपनी परिस्थिति, सुविधा, आदि के अनुसार बनाना होगा। मुख्य बात है सोच-विचारकर अपने लिये एक ऐसी दिनचर्या बना लेना जिसका पालन करना सहज ही सम्भव हो। इस दिनचर्या में अपनी नौकरी, व्यवसाय, कार्य आदि के अनुसार अपने सभी कार्यों के लिये समय निर्धारित कर लेना चाहिये। समय निर्धारण में कार्यों की प्राथमिकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार प्राथमिक्ता निर्धारित करना होता है। उसी क्रम में प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करना होगा।

समय का सदुपयोग करने के लिये दिनचर्या का प्रारंभ सुबह उठने से करना चाहिये। वस्तुतः हमारे जीवन में समय का प्रारम्भ ही तब होता है, जब हम सोकर उठते हैं तथा अपने विभिन्न दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। अतः दिनचर्या का प्रारभ प्रातः उठने से करें। उठने से रात सोते तक प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करें तथा क्रमवार हर कार्य करते चलें। यहाँ तक कि खान-पान, सैर-सपाटे, मनोरंजन, आमोद-प्रमोद आदि सभी कार्यों के लिये एक समय निर्धारित कर लें, तथा उसके अनुसार कार्य करें। इस प्रकार कार्य करने पर हम समय का अधिक से अधिक उपयोग कर सकेंगे, तब हमारे पास सभी आवश्यक कार्य करने का समय रहेगा। हमारे सभी कार्य सुव्यवस्थित एवं सुन्दर होंगे। हमारा वर्तमान सुख और शान्तिपूर्ण होगा। जीवन की सफलता का यही रहस्य है। ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (२०)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

चरवाहा और कुत्ता

एक चरवाहा रात के समय जब अपनी भेंड़ों को बाड़े में बन्द कर रहा था, तो उनके साथ एक भेड़िया भी मिल गया था। जब कुत्ते ने भेड़िये को भी बाड़े में बन्द होते देखा, तो उसने कहा, "मालिक, यदि आप भेड़िये को भी बाड़े में बन्द कर देंगे, तो फिर आप भेड़ों के सुरक्षित रहने की आशा कैसे कर सकते हैं?"

दीपक

अच्छी तरह तेल से भरे हुए तथा जलते हुए एक दीपक ने डींग हाँकते हुए कहा कि वह सूर्य से भी अधिक प्रकाश देता है। तभी सहसा हवा का एक झोंका आया और चिराग गुल हो गया। उसके मालिक ने उसे दुबारा जलाकर कहा, "ज्यादा डींग मत हाँक, बल्कि अब आगे से चुपचाप रौशनी देकर ही सन्तुष्ट रह। जान ले कि तारों तक को दुबारा जलाने की जरूरत नहीं होती।"

सिंहनी और शिकारी

एक सिंह-शावक को सोया हुआ पाकर एक साँड़ ने उसे अपने सींगों से गोद-गोदकर मार डाला। सिंहनी आयी और अपने पुत्र को मरा हुआ देख जोरों से रोने लगी। जंगली सूअर की खोज में गये एक शिकारी ने उसकी दुरवस्था देखकर कहा, "जरा तुम भी तो सोचो कि तुम कितने लोगों को मारकर उनके माता-पिताओं के शोक का कारण बनी हो।"

सिंह और लोमड़ी और गधा

एक सिंह, एक लोमड़ी और एक गधे ने एक दिन आपस में मिल-जुलकर शिकार करने और बाद में उसे बाँट लेने का समझौता किया। उस दिन जंगल में उन्हें एक बड़ा शिकार मिल गया। उसे लेकर लौटने के बाद सिंह ने गधे से कहा कि वह तीनों भागीदारो के लिए भोजन का उचित बँटवारा कर दे। गधे ने सावधानीपूर्वक तीन समान भाग किये और नम्रता के साथ बाकी दोनों भागीदारों को अपना हिस्सा स्वयं चुन लेने को कहा। सिह ने इस पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर गधे को ही मार डाला। इसके बाद उसने लोमड़ी से बँटवारा कर देने को कहा। लोमड़ी ने लगभग पूरे शिकार को ही एक बड़े ढेर के रूप मे रख दिया और अपने लिए केवल एक खूब छोटा-सा ही टुकड़ा अलग रखा। इस पर सिंह बोला, "मेरे प्रिय मित्र, किसने तुम्हें बँटवारा करने की कला सिखाई है? तुम्हारा कार्य बिल्कुल ठीक-ठीक हुआ है।" लोमड़ी ने कहा, "मैंने गधे की हालत देखकर उसी से सीख ली है।"

जो दूसरों के जीवन से सीख ग्रहण करता है, वही सुखी रह पाता है।

ओक का वृक्ष और लकड़हारे

लकड़हारों ने एक पहाड़ी ओक के पेड़ को काटा और उसी की डालियों से पच्चर बनाकर पेड़ के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वृक्ष ने आहें भरते हुए कहा, "मुझे अपनी जड़ों पर पड़नेवाली कुल्हाड़ी की चोटों का उतना दु:ख नहीं है, परन्तु अपनी ही डालों का पच्चर बनाकर टुकड़े किये जाने का मुझे अत्यन्त खेद है।"

अपने ही लोगों द्वारा दी गयी पीड़ा को सहन कर पाना बहुत कठिन है।

मुर्गी और सुनहरे अण्डे

झोपड़ी में रहनेवाले एक दम्पति के पास एक ऐसी मुर्गी थी, जो प्रतिदिन एक सोने का अण्डा दिया करती थी। उन्होंने सोचा कि मुर्गी के पेट में जरूर सोने का एक बड़ा टुकड़ा होगा। तत्काल सारा सोना पा लेने के लोभ में उन लोगों ने मुर्गी को मार डाला, परन्तु देखा कि भीतर से वह अन्य मुर्गियों के समान ही है और उसके भीतर सोना आदि कुछ भी नहीं है। एकाएक धनी बन जाने के लालच में वे अपनी प्रतिदिन की निश्चित मोटी आमदनी से भी हाथ धो बैठे।

लालच बुरी बला है।

भेड़िये और रखवाले कुत्ते

भेड़ों की रखवाली करनेवाले कुत्तों को सम्बोधित करते हुए भेड़िये बोले, "अनेक गुणों में हमारे ही समान होकर भी तुम लोग क्यों हमारे साथ एक मनवाले होकर भाइयों के समान नहीं रहते। हमारा तुमसे केवल एक ही बात में भेद है और वह यह कि हम लोग स्वाधीनतापूर्वक रहते हैं, जबकि तुम आदमी के सामने झुककर उसकी गुलामी करते हो। और इस सेवा के बदले मनुष्य तुम्हें कोड़ों से मारता है और तुम्हारे गले में रस्सी बाँधकर रखता है। वे तुमसे अपने भेड़ों की रखवाली भी करवाते हैं और स्वयं उनका मांस खाकर हड्डियाँ तुम्हारी ओर फेक देते हैं। यदि तुम हमारे प्रस्ताव को मानकर हमें भेड़

लेने दो, तो हम सब मिलकर जी भर कर उसका भोग करेंगे।'' कुत्तों ने बड़ी सहानुभूति के साथ भेड़ियों के प्रस्ताव सुने और वे ज्योंही भेड़ियों की माँद में घुसे, भेड़िये उन पर टूट पड़े और उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

स्वार्थी लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर कभी-कभी हम अपना बहुत बड़ा नुकसान कर बैठते हैं।

गधा और मेढक

पीठ पर लदी लकड़ियों का भार ढोता हुआ एक गधा एक तालाब से होकर गुजर रहा था। पानी से होकर जाते हुए उसके पॉव फिसल गये और वह लुढ़ककर गिर पड़ा। पीठ पर बँधे बोझ के कारण उठने में अक्षम होकर वह जोर जोर से चिल्लाने लगा। तालाब में रहनेवाले कुछ मेढक यह चिल्लाहट सुनकर उसके पास गये और बोले, ''जब एक बार पानी में गिर जाने मात्र से ही तुम आसमान सिर पर उठा रहे हो, तो यदि तुम्हें हमारे समान सर्वदा इसी तालाब में ही रहना पड़ा, तब तुम क्या करोगे?''

किसी के लिए भी दूसरे की पीड़ा को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वह अपने पैमाने से ही दूसरे के सुख-दुख को भी मापने का प्रयास करता है।

केकड़ा और लोमड़ी

एक केकड़े ने समुद्र का तट छोड़कर एक मैदान को अपना चरागाह बनाया। एक भूखी लोमड़ी ने उसे देखा और उसे खाने को तैयार हुई। भागकर प्राण बचाने का कोई भी रास्ता न देखकर केकड़े ने कहा, ''मैं इसी के योग्य था, क्योंकि जब मेरा स्वभाव तथा आदतें समुद्र के ही अनुकूल हैं, तो फिर मुझे इस मैदान में आने की जरूरत ही क्या थी?''

अपनी हालातों पर सन्तोष रखने में ही सुख निहित है।

तीरन्दाज और सिंह

एक बड़ा ही निपुण तीरन्दाज शिकार की खोज में पहाड़ों में गया, परन्तु जंगल के समस्त जानवर उसे देखकर भाग निकले। एकमात्र सिंह ने ही ठहरकर उसे चुनौती दी। शिकारी ने तत्काल एक तीर छोड़ते हुए सिंह से कहा, ''मैं तुम्हें अपना सन्देशवाहक भेज रहा हूँ, ताकि तुम उससे जान लो कि मैं तुम्हारे ऊपर कैसा आक्रमण करूँगा।'' सिंह उससे घायल होकर अत्यन्त भयभीत हुआ भाग निकला। एक लोमड़ी सारी घटना को देख रही थी। उसने सिंह से साहस का अवलम्बन करने को कहा और पहला ही वार झेलकर पीछे हट जाने से मना किया। सिंह ने उत्तर दिया, ''तुम्हारा परामर्श निरर्थक है; क्योंकि जब उसका सन्देशवाहक इतना भयानक है, तो फिर वह व्यक्ति स्वयं कितना भयंकर होगा?''

ऐसे लोगों से सावधान रहो, जो दूर से ही हमला कर सकते हैं।

गधा और चरवाहा

एक चरवाहा अपने गधे को मैदान में चरते देख रहा था। सहसा अपने शत्रु की ललकार सुनकर वह सावधान हो गया। उसने गधे से अपने साथ भाग निकलने को कहा, नहीं तो दोनों के पकड़े जाने का खतरा था। परन्तु गधे ने आराम से उत्तर दिया, ''महाशय, मैं क्यों भागूँ? क्या आपको लगता है कि विजेता मुझ पर दो टोकरे लादेगा?'' चरवाहे ने उत्तर दिया, ''नहीं।'' गधा बोला, ''तो फिर जब तक मुझे टोकरे ही ढोने पड़ते हैं, तो मुझे इससे क्या फरक पड़ता है कि मेरा मालिक कौन है?''

सरकारों के बदलने से आम जनता को कोई फरक नहीं पड़ता। केवल उनके स्वामियों का नाम भर बदल जाता है।

चील और हंस

प्राचीन काल में चील तथा हंस – दोनों को ही गाने की कला आती थी। परन्तु घोड़े का हिनहिनाना सुनकर दोनों इतने मुग्ध हो गये कि उन्होंने उसकी नकल उतारने की कोशिश की। हिनहिनाने का अभ्यास करने के प्रयास में वे अपने गाने की कला भी भूल बैठे।

काल्पनिक लाभों की इच्छा से लोग बहुधा वर्तमान लाभों को खो बैठते हैं।

खरगोश और लोमड़ियाँ

खरगोशों का चीलों से युद्ध चल रहा था और उन्होंने इसमें सहायता के लिए लोमड़ियों को सन्देश भेजा। वहाँ से उत्तर मिला, ''हमें पता नहीं कि आप लोग कौन हैं और किसके साथ युद्ध कर रहे हैं, अत: हम आपकी सहायता करने में असमर्थ हैं।''

किसी से सहायता पर निर्भर मत रहो।

ऊँट-पालन

मनुष्य ने जब सबसे पहले ऊँट को देखा, तो वह उसके बड़े आकार से इतना डर गया कि वह सिर पर पाँव रख कर भाग गया। कुछ काल बाद उस जानवर के निरीह तथा कोमल स्वभाव को देखकर उसने उसके पास तक जाने का साहस जुटाया। इसके कुछ काल उपरान्त जब उसने देखा कि यह जन्तु बिल्कुल भी खतरनाक नहीं है, तो वह इतना साहसी हो गया कि उसने ऊँट के मुख में लगाम डाल दी और एक बच्चे को उसे हाँकने का काम सौंप दिया।

उपयोगिता ही भय पर विजय दिला देती है।

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (८)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले कुछ अंकों में आपने देखा कि स्वामीजी ने महाबलेश्वर से पूना आकर लगभग दो सप्ताह निवास किया और इस दौरान वे वहाँ के कई महत्त्वपूर्ण लोगो के सम्पर्क में आये। साथ ही हमने प्रो. गोले द्वारा लिपिबद्ध उनका एक सुदीर्घ वार्तालाप भी उद्धृत किया। अब हम उनके मध्य-भारत भ्रमण तथा मुम्बई-निवास के प्रसंग पर आते हैं।)

मुम्बई में सुदीर्घ प्रवास

जुलाई (१८९२) के अन्तिम सप्ताह में स्वामीजी मुम्बई पहुँचे। वहाँ हरिदास बाबू के भाई ने उनका बैरिस्टर रामदास छबीलदास के साथ परिचय करा दिया। बैरिस्टर साहब ने अत्यन्त सौहार्द के साथ स्वामीजी का स्वागत किया और अपने मकान में ही उनके निवास की व्यवस्था करा दी। श्रीयुत् रामदास के पिता सेठ छबीलदास एक कट्टर आर्यसमाजी थे। उनके घर निवास के दौरान हुई एक घटना का वर्णन करते हुए स्वामी शिवानन्द जी ने कहा था, "यहाँ पर स्वामीजी छबीलदास के घर बहुत दिन रहे थे। ... छबीलदास आर्यसमाजी थे, वे साकार उपासना नहीं मानते थे। स्वामीजी के साथ उनका इस विषय में अनेक प्रकार का वार्तालाप होता था। एक दिन वे स्वामीजी से बोले, 'अच्छा, आप जो कहते हैं कि साकार-उपासना मूर्तिपूजा आदि सब सत्य हैं। यदि आप वेद के द्वारा प्रमाणित कर मुझे साकार उपासना अथवा साकार भगवान की बात समझा सकें, तो मैं आर्यसमाज छोड़ दूँगा।' स्वामीजी ने खूब जोर के साथ उत्तर दिया, 'ऐसा क्यों नहीं कर सकता? निश्चय ही कर सकता हूँ।' और तब वे वेद से साकार-उपासना के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण देकर छबीलदास को हिन्दू धर्म समझाने लगे। स्वामीजी की प्रतिभा तो असाधारण थी। अन्त में छबीलदास को साकार-उपासना मानने को बाध्य होना पड़ा और अपनी प्रतिज्ञानुसार आर्यसमाज छोड़ना पड़ा।"[१]

वहाँ निवास के दौरान एक दिन स्वामीजी मुम्बई के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ से मिलने गये थे। उन्होंने स्वामीजी को कलकत्ते से प्रकाशित एक समाचार-पत्र का कुछ अंश दिखाया, जिसमें लिखा था कि बालिकाओं के विवाह हेतु सम्मति की आयु निर्धारित करने के लिए 'Age of Consent Bill' नाम से एक नये कानून का प्रस्ताव लाया गया है और बंगाल का सुशिक्षित समाज उसके विरुद्ध आन्दोलन कर रहा है। इस संवाद पर स्वामीजी बड़े लज्जित हुए और उन्होंने बालविवाह के विरुद्ध अपनी तीव्र परन्तु युक्तिसंगत प्रतिक्रिया व्यक्त की।

इसके अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि इन्हीं दिनों वे नगर से ४२ किलोमीटर उत्तर में स्थित कान्हेरी की गुफाओं का भी परिदर्शन करने गये थे। वहाँ तीन ओर से समुद्र द्वारा घिरे एक पहाड़ पर १०९ गुफाएँ तथा कुछ चैत्य-हॉल बने हुए हैं। बौद्ध धर्म के उत्कर्ष काल में इनमें भिक्षुगण निवास करते थे। कहते हैं कि सुप्रसिद्ध विद्वान् बुद्धघोष भी अपने शिष्यों के साथ यहीं रहे थे। स्वामीजी इस अति प्राचीन एवं परित्यक्त बौद्ध मठ तथा उसके परिवेश को देखकर इतने मुग्ध हुए थे कि उन्होंने उस स्थान का जीर्णोद्धार कर पुन: अध्ययन तथा साधना का एक केन्द्र बनाने की परिकल्पना की थी।

२४ अगस्त १९०२ को कोल्हापुर में आयोजित विवेकानन्द-स्मृति-सभा में व्याख्यान देते हुए मुम्बई के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता श्रीनिवास अयंगार सेट्लुर ने कहा था, "मुम्बई में श्री छबीलदास ने अपनी 'कान्हेरी केव्स' नामक जगह स्वामीजी को मठ के लिए देने का वचन दिया था।" मराठी मासिक 'ग्रंथमाला के अगस्त १९०२ अंक में प्रकाशित उपरोक्त उद्धरण में कुछ भूल हो गई-सी प्रतीत होती है। सम्भवत: कान्हेरी की गुफाएँ सरकारी सम्पत्ति थीं और स्वामीजी द्वारा वहाँ मठ बनाने की इच्छा व्यक्त करने पर श्री छबीलदास ने उन्हें उस स्थान को प्राप्त करने में सहायता देने का वचन दिया होगा। वैसे छबीलदास जी पर काफी शोध करनेवाले एक संन्यासी का कहना है कि छबीलदास मुम्बई तथा उसके आसपास स्थित काफी बड़ी सम्पत्ति के स्वामी थे, अत: कान्हेरी की गुफाएँ यदि उनकी निजी सम्पत्ति के अन्तर्गत आती रही हों, तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्वामीजी की एक अमेरिकी शिष्या भगिनी क्रिस्टीन की स्मृतियों में इसका दूसरा सूत्र मिलता है। कई वर्ष बाद जब स्वामीजी अपने कुछ चुने हुए अनुरागियों के साथ अमेरिका के सहस्र-द्वीपोद्यान में निवास करते हुए उन्हें शास्त्र एवं साधना विषयक शिक्षाएँ प्रदान कर रहे थे, तो कभी-कभी वे अपने शिष्यों के साथ भारत जाकर वहाँ कार्य करने की योजना बनाने में डूब जाते। एक दिन एक ऐसी ही मन:स्थिति में वे कह उठे – "भारत में एक द्वीप पर, तीन तरफ से समुद्र से घिरी हुई हमारी एक सुन्दर जगह होगी। उसमें निर्मित छोटी-छोटी गुफाओं में से प्रत्येक में दो लोगों के रहने का स्थान होगा। हर गुफा में स्नान के लिए एक कुण्ड तथा पेय जल की व्यवस्था होगी। सभागृह के लिए खुदाई द्वारा अलंकृत स्तम्भों वाला एक हाल होगा और उपासना के लिए एक और भी विशाल चैत्य-हॉल होगा। अहा! वह स्थान क्या ही सुखमय होगा!"

इस घटना के अनेक वर्ष बाद जब भगिनी क्रिस्टिन मुम्बई आयीं, तो मानो किसी अलौकिक प्रेरणा से उनके मन में

---

१. आनन्दधाम की ओर (सं. १९८४), पृ. १०२

घनघोर जंगल के बीच स्थित कान्हेरी जाने तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। बैलगाड़ी पर अत्यन्त कष्टमय तथा संकटपूर्ण यात्रा करके जब वे गुफाओं तक पहुँचीं, तो वहाँ का दृश्य देखकर उनकी आँखे फटी-की-फटी रह गयीं। स्वामीजी द्वारा सहस्रद्वीपोद्यान में वर्णित पूर्वोक्त परिकल्पना को अपने नेत्रों के समक्ष साकार पाकर उनके विस्मय का ठिकाना न रहा। बाद में कलकत्ते लौटकर जब उन्होंने स्वामीजी के एक शिष्य स्वामी सदानन्द से ये बातें कही, तो वे बोले, "हाँ, अमेरिका जाने के पूर्व पश्चिमी भारत का भ्रमण करते समय स्वामीजी ने उन गुफाओं को देखा था। उस स्थान ने स्वामीजी को इतना आकृष्ट किया और उनके हृदय को इतनी गहराई से स्पर्श किया था, मानो उन्हें अपने किस पूर्वजन्म में वहाँ निवास करने की स्मृति आ गयी हो। उन दिनों वह स्थान अज्ञात तथा विस्मृत हो चुका था। स्वामीजी को आशा थी कि किसी दिन निश्चित रूप से वह उनके अधिकार में आकर, उस भावी कार्य का एक केन्द्र बनेगा, जिसकी योजना बनाने में वे उन दिनों लगे हुए थे।"

स्वामीजी की पुरानी बँगला जीवनी के अनुसार उन दिनों वे अपना अधिकांश समय वेदाध्ययन में बिताया करते थे। २२ अगस्त १९९२ ई. को स्वामीजी ने मुम्बई से जूनागढ़ के दीवान साहब के नाम अपने पत्र में लिखा – "मुझे यहाँ कुछ संस्कृत पुस्तकें तथा उन्हें समझने के लिए सहायता भी मिल गई है, जिनके अन्यत्र मिलने की आशा मैं नहीं करता। मैं उन्हे समाप्त करने के लिए व्यग्र हूँ। ... यहाँ १५-२० दिन रहने के बाद मैं रामेश्वर को प्रस्थान करूँगा। देश के इन भागों में संस्कृत तथा अन्य विद्याओं के ज्ञान का अभाव देखकर मुझे बड़ा खेद होता है। इस अंचल के निवासी स्नान, खान-पान आदि से सम्बन्धित स्थानीय अंधविश्वासों के पुंज को ही अपना धर्म समझते है और इसी में उनका सारा धर्म निहित है।"

उपरोक्त पत्र में स्वामीजी ने वहाँ और भी १५-२० दिन बिताने की इच्छा व्यक्त की है, परन्तु लगता है उनका मुम्बई निवास और आगे खिंचता गया, क्योंकि वहीं से लिखा हुआ उनका २० सितम्बर का एक और भी पत्र मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी ने अपने बहुमूल्य समय का लगभग दो महीने या उससे भी अधिक काल मुम्बई में बिताया, इसका कारण जैसा कि हमने देखा कि वहाँ उन्हें अनेक संस्कृत ग्रन्थ तथा उन्हें समझने में विशेष सहायता प्राप्त हुई थी। वह 'सहायता' किस प्रकार की थी? क्या वे वहाँ किसी ऐसे महान् पण्डित के सम्पर्क में आये थे, जिनके समान विद्वान् अन्यत्र दुर्लभ थे?

इस विषय में हमें थोड़ा-सा संकेत मिलता है, श्री श्रीनिवास सेटलुर से, जो स्वामीजी के एक अन्तरंग मित्र थे, उन्होंने १२ जुलाई १९०२ को 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के सम्पादक के नाम अपने पत्र में लिखा था – "During this trip he was for somtime in Bombay, as guest of our well-known citizen Mr, Chhabildas. It was then that he visited the Mahamahopadhyay Rajaram Sastri. He then went to poona and then to Belgaum." – "इस यात्रा के दौरान कुछ काल तक वे यहाँ के सुप्रसिद्ध नागरिक श्री छबीलदास के घर अतिथि के रूप में ठहरे थे। उसी समय वे महामहोपध्याय राजाराम शास्त्री से मिलने गये थे। तदन्तर वे पूना और फिर बेलगाँव चले गये।"

उपरोक्त तथ्य से ऐसा लगता है स्वामीजी के मुम्बई-निवास के दौरान उनका इन महामहोपध्याय पण्डित[२] के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ था और शास्त्र-ग्रन्थों की गुत्थियाँ सुलझाने में उनसे विशेष सहायता मिली। उनके समान विद्वान् अन्यत्र मिलना क्यों कठिन था और क्यों स्वामीजी उनके प्रति इतने आकृष्ट हुए थे, इसका अनुमान उनके संक्षिप्त जीवन-परिचय से ही हो जायेगा, जो निम्नलिखित है –

पं. राजाराम शास्त्री बोडस के पूर्वज महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के एक छोटे से ग्राम में निवास करते थे। उनके पितामह अपनी तरुणावस्था में ही काशी जाकर बस गये। वहीं पर १८३७ ई. के नवम्बर माह में राजाराम का जन्म हुआ। उनके परिवार में कुल-परम्परा से वेदों का अध्ययन होता चला आ रहा था। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उन्हें वेदों का अच्छा ज्ञान हो गया और क्रमशः सम्पूर्ण काशीखण्ड में एक महान् विद्वान् के रूप में उनकी कीर्ति फैल गयी।

१८५७ ई. के प्रारम्भ में ग्वालियर की महारानी ने एक विराट् सोमयज्ञ का आयोजन किया था। सम्पूर्ण भारत के अनेक वेदज्ञ पण्डितों को उसमें भाग लेने का आमंत्रण मिला था। राजाराम शास्त्री भी इसी निमित्त से ग्वालियर गये, परन्तु उसी समय सुप्रसिद्ध क्रान्तियुद्ध छिड़ जाने के कारण यज्ञ की योजना को छोड़कर वेदज्ञ पण्डितों को वापस लौट जाना पड़ा था। काशी लौटते समय पं. राजाराम को भी अंग्रेज सैनिकों ने गिरफ्तार कर लिया था, परन्तु पूछताछ के बाद अगले ही दिन उन्हें छोड़ दिया गया।

वापस आकर शास्त्रीजी पुनः अपने अध्ययन-कार्य में डूब गये और क्रमशः उन्होंने व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, अलंकार, वेदान्त आदि विद्याओं में अच्छी प्रवीणता हासिल कर ली। १८७२ ई. में मुम्बई के एलफिंस्टन कॉलेज में व्याकरण-शास्त्र के एक प्राध्यापक की जगह खाली हुई। उसकी पूर्ति के लिए वाराणसी के संस्कृत कालेज के प्राचार्य से एक योग्य विद्वान् भेजने का अनुरोध किया गया। उस पद के लिए पं.

२. स्वामी तुरीयानन्द की बँगला जीवनी (पृ. ४०-१) में भी स्वामीजी के बम्बई में एक उपाधिधारी बड़े पण्डित के घर निवास का उल्लेख है।

राजाराम शास्त्री ही चुने गये और अगले वर्ष (१८७१ ई.) की जनवरी में मुम्बई जाकर उन्होंने अपना कार्यभार सँभाल लिया। कॉलेज में अध्ययन से बचे हुए समय में वे अपने घर पर भी अनेक विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे। उसी महाविद्यालय के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक डॉ. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने भी उनके पास 'परिभाषेन्दु-शेखर' आदि दुरूह ग्रन्थों का अध्ययन किया था। मुम्बई के समस्त विद्वान् शास्त्रीजी को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखते थे। कॉलेज के अंग्रेज प्राध्यापकों को भी कहीं कुछ समझने में कठिनाई होने पर, वे अत्यन्त सहज एवं स्पष्ट रीति से उन्हें समझा देते थे। शास्त्रीजी अतीव सात्त्विक वृत्ति के ब्राह्मण थे। अध्ययन तथा अध्यापन में उनकी इतनी निष्ठा थी कि रात के ९-१० बजे तक कोई-न-कोई शिक्षार्थी उनके पास आता ही रहता था।

वे सात वर्षों तक मुम्बई विश्वविद्यालय की एम.ए. परीक्षा के वेदान्त विषय के परीक्षक रहे। पंजाब विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक शिक्षा संस्थाओं के विभिन्न विषयों के परीक्षक के रूप में भी उनकी नियुक्ति हुई थी। १८८७ ई. में महारानी विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर जिन सुप्रसिद्ध पण्डितों को सर्वप्रथम महामहोपाध्याय की पदवी दी गई थी, उनकी तालिका में पं. राजाराम शास्त्री का नाम ही सर्वोच्च था। २८ नवम्बर १८९६ ई. को पक्षाघात रोग से उनका देहान्त हुआ।

संस्कृत तथा मराठी में शास्त्रीजी ने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिनमें प्रमुख हैं – (१) शब्द-व्युत्पत्ति-कौमुदी (२) दयानन्द-खण्डन (३) शिवपुराण टीका (४) योगमणिप्रभा टीका के अनुवाद-सह पातंजल योगसूत्र तथा (५) वेदप्रामाण्य-चन्द्रिका आदि। इसके अलावा उन्होंने ऋग्वेद के सायण-भाष्य का भी सम्पादन करके प्रकाशन कराया था।

उपरोक्त तथ्यों से हम अनुमान लगा सकते है कि पं. राजाराम शास्त्री कितने महान् विद्वान् थे। भगिनी निवेदिता ने सूचित किया है कि स्वामीजी ने महाराष्ट्रीय पण्डितों के साथ रहकर मीमांसा-दर्शन का अध्ययन किया था। भगिनी क्रिस्टीन के मतानुसार, "अपने मुम्बई अंचल में निवास के दौरान उन्होंने अपने संस्कृत भाषा का ज्ञान पक्का किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपना संस्कृत उच्चारण सुधारने की ओर भी विशेष ध्यान दिया था। दक्षिण की उच्चारण पद्धति उन्हें दोषरहित प्रतीत होती थी।" हमें लगता है कि स्वामीजी ने वहाँ पातंजल-योग का भी सविस्तार अध्ययन किया होगा। स्वामीजी के और शास्त्रीजी के वेद एवं योग सम्बन्धी विचारों का यदि कोई तुलनात्मक अध्ययन करे, तो यह शोध सम्भवत: बड़ा रोचक सिद्ध होगा।

पण्डित राजाराम शास्त्री से कौन-सा विषय समझने में स्वामीजी ने क्या सहायता ली, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने पोरबन्दर, पूना तथा मुम्बई में महाराष्ट्रीय परम्परा के अनुसार वेद-शास्त्र आदि का अनुशीलन किया था और इस प्रकार उपलब्ध ज्ञान उनके भावी कार्य की दृष्टि से बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ था।

मुम्बई से लिखित पूर्वोक्त २२ अगस्त के पत्र में ही स्वामीजी लिखते हैं, "कल यहाँ मैंने आपके मित्र मनसुखराम से भेंट की, उनके साथ एक संन्यासी मित्र ठहरा है। वे मेरे प्रति बहुत ही कृपालु हैं और उनका पुत्र भी।" ऐसा लगता है कि स्वामीजी के ये संन्यासी मित्र उन्हीं के गुरुभ्राता स्वामी अभेदानन्द थे। पुरानी बँगला जीवनी में लिखा है – "संयोगवश एक दिन उनकी स्वामी अभेदानन्द से भेंट हो गई। उन्होंने बताया था, 'उन दिनों स्वामीजी का हृदय मानो एक अग्निकुण्ड में परिणत हो गया था। तब वे रात-दिन इसी चिन्ता में डूबे रहते थे कि भारत के प्राचीन आध्यात्मिकता की किस प्रकार पुनर्प्रतिष्ठा हो। इसके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं सोचते थे।' स्वामीजी के चित्त की उद्विग्नता देखकर अभेदानन्द डर गये। उन्होंने बताया था, 'उस समय स्वामीजी को देखकर ऐसा लगता था मानो वे एक प्रचण्ड झंझावात हों।' स्वामीजी ने स्वयं भी उनसे कहा था, 'काली, मेरे भीतर इतनी शक्ति एकत्र हो गई है कि भय होता है, कहीं फट न जाऊँ।' "

सम्भवत: इसी काल में किसी दिन वे सुप्रसिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा का स्टूडियो देखने गये थे। त्रिवेन्द्रम से १९६४ ई. में प्रकाशित डॉ. के. मार्तण्ड वर्मा ने रविवर्मा की अपनी अंग्रेजी जीवनी में लिखा है – "(शिकागो में) भारतीय वस्तुएँ कहाँ प्रदर्शित हैं इसकी खोज करते हुए स्वामीजी उत्सुकता के साथ विभिन्न कक्षों में घूम रहे थे। सोच रहे थे कि क्या किसी भारतीय कलाकार को भी पुरस्कार मिला है? सहसा उनकी दृष्टि राजा रविवर्मा के दस तैलचित्रों पर जा टिकी। उन्हें विशेष पुरस्कार मिले थे, क्योंकि उच्च वर्ग की नारियों का अंकन होने के कारण नृतत्त्व (एंथ्रॉपोलाजी) की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व था। चित्रकार ने तत्कालीन सामाजिक जीवन में प्रचलित उत्सव-अनुष्ठानों के समय उपयोग में आनेवाले पोशाकों तथा अन्य वस्तुओं का विशेष मनोयोगपूर्वक अंकन किया था। ये रविवर्मा कौन हैं? स्वामीजी को स्मरण हो आया कि १८९२ ई. में उन्होंने इन चित्रकार के कुछ चित्र बड़ौदा में देखे थे। ... हरिदास बिहारीदास को उन्होंने इस सम्बन्ध में २६ अप्रैल १८९२ ई. को लिखा था। उसके दो माह बाद ही भारत में रविवर्मा के साथ उनकी प्रथम भेंट हुई।"

लेखक ने आगे बताया है कि शिकागो से लौटने के बाद स्वामीजी पुन: राजा से मिले थे, परन्तु हमें इसकी कोई सम्भावना नहीं दिखती। निश्चित रूप से वे राजा से एक ही

बार और वह भी अपने परिव्रज्या के दौरान ही मिले थे। उपरोक्त वर्णन के अनुसार भेंट के समय उन्होंने राजा के आवास पर भोजन का निमंत्रण भी स्वीकार किया था। रविवर्मा का रसोइया चेतू आयन अपने जीवन के अन्तकाल तक गर्व के साथ कहा करता था कि मेरे इन्हीं दो हाथों ने भोजन बनाकर स्वामीजी को परोसा है। इस भेंट के समय स्वामीजी ने अवश्य रविवर्मा के चित्र देखे होंगे, उन पर अपने विचार व्यक्त किये होंगे और भारतीय चित्रकला के तत्त्वों पर चर्चा भी की होगी। श्री वैकुण्ठ नाथ सान्याल ने अपने 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत' नामक बँगला ग्रन्थ में (पृ. २९२) लिखा है – "सुप्रसिद्ध रविवर्मा की चित्रकला की उन दिनों सभी प्रशंसा किया करते थे। परन्तु (स्वामीजी द्वारा) उनकी त्रुटियाँ बताने पर चित्रकार ने कहा – 'अब तक कोई भी इस दोष पकड़ नहीं सका था। लगता है आपने कभी इस विद्या में सिद्धि-लाभ की है।' इस पर स्वामीजी ने कहा –

देवगुरुप्रसादेन जिह्वाग्रे मे सरस्वती
तेनाहं जानामि सर्वं भानुमत्यास्तिलं तथा।"

श्री सान्याल से ही सुनकर डा. भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक 'Swami Vivekananda: The Patriot Prophet' (Ist Ed. p. 300) में एक अन्य घटना का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि यह घटना तब हुई, जब स्वामीजी पूना में एक वकील के घर ठहरे थे। परन्तु वे मुम्बई में ही बैरिस्टर छबीलदास के घर ठहरे थे और इस घटना के वहीं होने की सम्भावना अधिक है। वे लिखते हैं, "एक दिन कोई उनके साथ रविवर्मा की चित्रकला के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा था, जो उन दिनों भारतीय चित्रकला में एक नई शैली के प्रणेता माने जाते थे। स्वामीजी ने चित्रकार के दोषों की ओर ध्यान दिलाया। इस पर प्रतिवादी भौचक्का रह गया कि एक भिक्षुक परिव्राजक भला कैसे सम्पूर्ण भारत में विख्यात् रविवर्मा के दोष निकालने का दुस्साहस कर सकता है! उनके मेजबान ने इसका कठोर उत्तर देते हुए बताया कि स्वामीजी कला के एक विशेषज्ञ हैं।" परवर्ती काल में भी स्वामीजी ने अपने 'प्राच्य और पाश्चात्य' ग्रन्थ में राजा रविवर्मा की चित्रकला को पाश्चात्य शैली की नकल बताते हुए, भारतीय चित्रकारों को भारतीय परम्परा का ही अनुसरण करने का परामर्श दिया है।

❖ (क्रमशः) ❖

(आगामी अंकों में देखेंगे कि स्वामीजी किस प्रकार एक बार फिर मुम्बई से पूना गये और लोकमान्य तिलक के साथ कुछ दिन निवास करने के पश्चात् उन्होंने पुनः महाबलेश्वर की यात्रा की।)
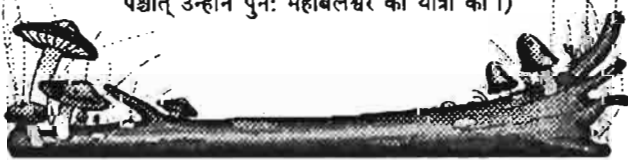
सारदा-स्तुतिः

श्री रवीन्द्रनाथ गुरु

सत्कीर्तिः शंखशुभ्रा जगति शशिनिभा भाविनि भासिता ते
गाम्भीर्यौदार्यधैर्यार्जवगुणनिकरालंकृते साध्वि भक्ते।
कारुण्येनाभ्युपेते कलुषविरहिते सन्ततं द्वन्द्वमुक्ते।
सारदे त्वं प्रथितसुचरिते रामकृष्णानुरक्ते मां पाहि ।।१।।

– हे भावमयी, तुम्हारी श्रेष्ठ कीर्ति जगत् में शंख तथा चन्द्र के समान शुभ्र आलोक से उद्भासित है। गम्भीरता, उदारता, धैर्य, सरलता, आदि गुणरत्नों से भूषित, करुणा से ओतप्रोत, निष्पाप, सतत द्वन्द्वमुक्त, हे सुप्रसिद्ध साध्वि भक्तिन रामकृष्ण-अनुरागिनी सारदे! मेरी रक्षा करो।

मातस्त्वं यतिवत्सलाऽतिसरला साम्यार्कभाभास्वरा
भक्तास्त्वामनुभावयन्त्यविरता श्रीसारदे पाहि माम्।
ज्योतिर्ज्ञान-विवेकदे सुवरदे भासारदे सारदे।
मेधां देहि भवे वराभयददे देवि दयावारिदे ।।२।।

– हे माता, तुम यतिवत्सल, अत्यन्त सरल तथा साम्यसूर्य की प्रभा से आलोकित हो। हे सारदे! भक्तगण निरन्तर तुम्हारा स्मरण करते है, तुम मेरी रक्षा करो। विवेक, ज्योति तथा ज्ञान का सुन्दर वर देनेवाली, ज्ञान का सार देनेवाली, हे सारदे, संसार में श्रेष्ठ अभय प्रदान करनेवाली, दया की वर्षा करनेवाली, हे देवि! तुम मुझे मेधा (शुद्ध बुद्धि) प्रदान करो।

त्वत्तः सत्यशिवञ्च सुन्दरमहो ज्योतिश्च ते भासते
चित्तध्वान्तनिवारिणि गुणघने वर्षामृतं तुष्टिदम्।
धर्मो राजतु भारते भगवति स्वर्गापवर्गप्रदे
शीलं भातु च रक्ष मानविकतां धर्मो जयत्वाहवे ।।३।।

– हे मन को दोषों का निवारण करनेवाली गुण की राशि, तुमसे ही सत्य-शिव-सुन्दर प्रकट हो रहा है और तुम्हारी ही ज्योति से उद्भासित भी हो रहा है। तुम तुष्ट करनेवाली ज्ञान-अमृत की वर्षा करो। हे स्वर्ग तथा अपवर्ग देनेवाली भगवती सारदे! भारत में धर्म तथा शील सुशोभित रहें। तुम हमारे मनुष्यत्व की रक्षा करो तथा धर्मयुद्ध में धर्म की जय हो।

सत्यन्यायदयाशमादिविभवा या सान्त्वनादायिनी
सद्विद्यामृतवर्षिणी जितमदा या मोक्षदा सारदा।
शक्तिर्नास्ति यदीयतत्त्वकलनां कर्तुं कवेः कापि सा
सर्वेषां शुभमातनोतु भुवि सा श्रीरामकृष्णप्रिया ।।४।।

– जो सत्य, न्याय, दया, शम आदि सद्गुणों से सम्पन्न हैं, सान्त्वना प्रदान करनेवाली हैं, विद्यामृतवर्षिणी, निरभिमानिनी, और मोक्ष तथा सार की दात्री हैं, जिनके तत्त्व का आकलन करना किसी भी कवि द्वारा सम्भव नहीं, वे ही श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी सारदा जगत् में सभी के शुभ का विस्तार करें।

आचार्य रामानुज (२०)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेनै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१६. शिष्यों को शिक्षाप्रदान तथा गुरुओं से शिक्षाग्रहण

श्रीरंगम लौटकर यतिपुंगव रामानुज ने कुछ काल अपने मठ में निवास किया। इसी दौरान जब उनके शिष्य कुरेश ने उनसे चरम श्लोक[१] का रहस्य जानने की उत्सुकता व्यक्त की, तो इस पर वे बोले, "कुरेश, मेरे गुरुदेव श्री गोष्ठिपूर्ण ने मुझे आदेश दिया है कि जो एक वर्ष तक अभिमानशून्य होकर ब्रह्मचर्य तथा परम दास्यभाव का आश्रय लेकर गुरुसेवा में लगा रहेगा, उसी को यह श्लोकार्थ देना, अन्य किसी को नहीं। अत: तुम एक वर्ष तक वैसा जीवन बिताओ, उसके बाद ही मैं तुम्हें श्लोकार्थ प्रदान करूँगा।"

कुरेश ने कहा, "हे महानुभाव, जीवन अत्यन्त अनिश्चित है। मुझे कैसे पता चलेगा कि मैं एक वर्ष और जीवित रहूँगा? अत: ऐसी कोई व्यवस्था कीजिए, जिससे मैं शीघ्र ही मंत्रार्थ का अधिकारी हो सकूँ।" यह सुनकर यतिराज बोले, "शास्त्र में लिखा है कि जो एक माह तक अनशन-व्रत करके रह लेता है, उसे वर्ष भर के ब्रह्मचर्य का फल मिलता है। अत: तुम एक माह भिक्षान्न द्वारा जीवन-यापन करो, क्योंकि भिक्षान्न भोजन तथा उपवास दोनों ही समान हैं।" कुरेश ने वैसा ही करके महीने के अन्त में श्लोकार्थ प्राप्त कर लिया।

उनके द्वितीय शिष्य दाशरथि ने भी चरम श्लोक का रहस्य जानने की आकांक्षा व्यक्त की। श्री रामानुज ने उनसे कहा, "वत्स, तुम मेरे परम आत्मीय तथा सद्ब्राह्मण कुलोद्भूत हो, अत: मेरी इच्छा है कि तुम श्री गोष्ठिपूर्ण के पास जाकर यह रहस्य जान लो। सगे होने के कारण तुम्हारे अनेक दोष होने पर भी मैं उन्हें देख नहीं सकूँगा; इसलिए मैं जैसा कहता हूँ, वही करो।" दाशरथि एक महाविद्वान् थे और सम्भवत: इसका उन्हें थोड़ा अभिमान भी था, इसीलिए यतिराज ने उन्हें गोष्ठिपूर्ण के पास जाकर श्लोकार्थ जान लेने का आदेश दिया था।

रामानुज के निर्देशानुसार दाशरथि गोष्ठिपूर्ण के पास गये, परन्तु छह महीने तक निरन्तर प्रयास करने पर भी उन पर कृपा नहीं हुई। बाद में एक दिन गोष्ठिपूर्ण ने अनुग्रहपूर्वक उनसे कहा, "दाशरथि, तुम मेरे प्रिय तथा परम पण्डित हो, यह मैं जानता हूँ; परन्तु यह निश्चित जान लेना कि विद्या, धन तथा सद्वंश में जन्मलाभ होने पर क्षुद्र चित्तवालों मे ही मदान्धता आती है, सज्जनों में ये वस्तुएँ दमन के कारण दोष के स्थान पर परम सद्गुणों में परिणत हो जाती हैं। इस बात को विशेष रूप से समझकर तुम अपने गुरुदेव के ही चरणों में आश्रय लो। वे ही तुम्हें श्लोकार्थ प्रदान करेंगे।"

ऐसा निर्देश पाकर दाशरथि अविलम्ब श्री रामानुज के पास गये और उन्हें सब कुछ कह सुनाया। उसी समय महापूर्ण की अत्तुला नामक पुत्री वहाँ आ पहुँची और यतिराज से बोली, "भाई, पिता ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। इसका कारण विस्तार से कहती हूँ, सुनो – मैं आज ही ससुराल से आयी हूँ। वहाँ प्रतिदिन प्रात: और सायंकाल भोजन बनाने के लिए मुझे दूर के एक तालाब से जल लाना पड़ता है। रास्ता दुर्गम तथा निर्जन है, अत: मैं भय तथा शारीरिक कष्ट से अभिभूत हो जाती हूँ। यह बात कल जब मैंने अपनी सास को बतायी, तो इस पर सहानुभूति व्यक्त करना दूर, अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा, 'पिता के घर से रसोइया नहीं ला सकी? मेरे पास इतने साधन नहीं हैं कि तुम्हारे लिए एक नौकर रख दूँ और तुम पाँव-पर-पाँव रखे बैठी रहो'। इस पर मेरा मन बड़ा दुखी हुआ और मैं रोते हुए पिता के पास चली आयी और पूरी घटना से उन्हें अवगत कराया। उन्होंने कहा, 'बेटी, तुम अपने धर्मभ्राता रामानुज के पास जाओ। वे इस विषय में जो उचित होगा, करेंगे।' तदनुसार मैं तुम्हारे पास आयी हूँ। अब मैं क्या करूँ, बोलो।"

श्री रामानुज यह सुनकर अत्तुला से बोले, "बहन, तुम खेद मत करो। मेरे पास एक ब्राह्मण हैं, मैं उन्हें तुम्हारे साथ भेज देता हूँ। वे तालाब से जल लाना और रसोई का सारा कार्य पूरा कर देंगे।' यह कहकर उन्होंने दाशरथि की ओर दृष्टिपात किया। गुरु का तात्पर्य समझकर उन्होंने आग्रहपूर्वक अत्तुला का अनुगमन किया और उनकी ससुराल पहुँचकर बड़े यत्न एवं भक्ति के साथ रसोइये का काम करने लगे। इसी प्रकार छह महीने बीत गये। एक बार एक वैष्णव वहाँ शास्त्र के एक श्लोक की व्याख्या कर रहे थे। लोग बड़े आग्रह के साथ उसका श्रवण कर रहे थे। दाशरथि भी वहीं बैठे थे।

---

१. गीता में कथित श्रीकृष्ण का चरम उपदेश – समस्त धर्मों को त्यागकर तुम एकमात्र मेरी ही शरण लो। शोक मत करो; मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। १८/६६

श्लोक का अर्थ सुनकर वे समझ गये कि व्याख्यांता भ्रमित हो गये हैं और श्रोतागण यदि उस व्याख्या पर विश्वास कर लें, तो उनका अनिष्ट होने की सम्भावना है। अत: वे अर्थ का प्रतिवाद किये बिना रह नहीं सके। इस पर व्याख्याता ने क्रोधित होकर कहा – "मूर्ख, चुप रह। कहाँ सियार और कहाँ स्वर्ग! कहाँ रसोइया और कहाँ शास्त्र! शास्त्र में तेरा क्या अधिकार? रसोईघर में जाकर अपनी क्षमता दिखा।" महात्मा दाशरथि इस पर जरा भी खिन्न हुए बिना धीर भाव से व्याख्या करने लगे। उनकी व्याख्या इतनी व्याकरण-सम्मत तथा सुन्दर शब्दावली में हुई कि सभी उसे सुनकर मुग्ध हो गये। पूर्व व्याख्याता ने स्वयं ही आकर उनके चरण स्पर्श करते हुए क्षमा माँगी और कुतूहलवश पूछ लिया, "आपके समान विद्वद्वर ऐसी दासवृत्ति क्यों कर रहे हैं?" इस पर उन्होंने बताया कि गुरुदेव के आदेश पालनार्थ ही वे रसोइया हुए हैं।

जब लोगों को पता चला कि ये यतिराज रामानुज के दाशरथि नामक परम विद्वान् शिष्य हैं, तो लोग दल बाँधकर श्रीरंगम पहुँचे और यतिराज से बोले, "हे प्रात:स्मरणीय महात्मन्, अपने सुयोग्य शिष्य महानुभाव दाशरथि को रसोई के कार्य में लगाए रखना उचित नहीं। उनमें अभिमान का लेश तक नहीं है। वे साक्षात् परमहंस-स्वरूप हैं। अत: आप अनुमति दीजिए कि हम उन्हें अत्यन्त सम्मानपूर्वक आपके चरणों में ले आयें।" यतिराज उनकी बातें सुनकर परम सन्तुष्ट हुए और स्वयं उन लोगों के साथ जाकर उन्होंने दाशरथि का स्नेहपूर्वक आलिंगन करते हुए आशीर्वाद दिया। तदुपरान्त उन्होंने उनको श्रीरंगम लाकर तथा चरम श्लोक का अर्थ बताकर कृतार्थ किया। दाशरथि वैष्णव-सेवा के द्वारा धन्य हुए थे, अत: वैष्णवदास के नाम से विख्यात हैं।

इसके बाद श्री रामानुज ने महापूर्ण के आदेशानुसार श्री वररंग से तमिल प्रबन्ध का पुन: अध्ययन किया। इसके उपरान्त गोष्ठिपूर्ण मालाधर नामक यामुनमुनि के एक शिष्य को लेकर रामानुज के पास आये और बोले, "वत्स, ये महापण्डित तथा हमारे गुरु यामुनमुनि के शिष्य हैं। ये 'शठारि-सुक्त' या शठारि-रचित 'सहस्त्रगीति' नामक प्रबन्ध के अर्थ में विशेष निष्णात हैं। इससे वह सब पढ़कर धन्य हो जाओ।"

यतिराज रामानुज ने गुरुदेव का आदेश-पालन किया। एक बार मालाधर की व्याख्या समीचीन न लगने पर, उनके नवीन रूप से व्याख्या करने पर, उक्त पण्डितवर ने शिक्षार्थी के इस आचरण को धृष्टता मानकर अपने घर को प्रस्थान किया। क्रमश: गोष्ठिपूर्ण के कानों तक यह बात पहुँचने पर उन्होंने मालाधर के पास जाकर पूछा, "क्या सम्पूर्ण 'सहस्त्रगीति' का सम्यक् अर्थ रामानुज को हृदयंगम हो गया है?" इस पर मालाधर ने जो कुछ घटित हुआ था, उसे कह सुनाया। सब सुनकर गोष्ठिपूर्ण ने कहा, "भाई, तुम उन्हें सामान्य मनुष्य मत समझना। श्री यामुनमुनि का हृदयगत भाव जैसा उन्हें ज्ञात है; वैसा तुम्हें, मुझे या अन्य किसी को ज्ञात नहीं। साक्षात् लक्ष्मण ही जीवहित की इच्छा से रामानुज नाम लेकर अवतीर्ण हुए हैं। अतएव वे जैसा भी अर्थ करें, उसे तुमने यामुनमुनि के मुख से न सुना हो, तो भी साक्षात् उन्हीं के मुख से नि:सृत मर्मार्थ के समान ग्रहण करना।"

गोष्ठिपूर्ण के कथनानुसार मालाधर पुन: श्री रामानुज के पास गये और उन्हें शिक्षा देने लगे। एक दिन पुन: यतिराज द्वारा किसी श्लोक की भिन्न व्याख्या करने पर वे नाराज हुए बिना मनोयोगपूर्वक उसे सुनकर परम विस्मित हुए। उस श्लोक के भीतर ऐसा गहन अर्थ है, ऐसा उन्होंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था। उन्होंने परम आनन्द के साथ श्री रामानुज की प्रदक्षिणा करने के बाद उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और अपने पुत्र सुन्दरबाहु को उनका शिष्य बना दिया।

इस प्रकार मालाधर से 'सहस्त्रगीति' की शिक्षा प्राप्त करने के बाद यतिराज ने श्री वररंग सें 'धर्मरहस्य' का उपदेश पाने का संकल्प किया। देवगान-विशारद वररंग जब श्री रंगनाथ स्वामी के सम्मुख नृत्य एवं गीत करते-करते थक जाते, तो उस समय श्री रामानुज उनके चरण दबाकर पीड़ा कम करते और उनके अंग-प्रत्यंग पर हरिद्रा-चूर्ण का लेपन कर उनकी शारीरिक-वेदना को दूर करते। हर रात वे अपने हाथों से खीर बनाकर उन्हें भोजन के लिए प्रदान करते।

इस प्रकार छह महीने बीत जाने पर वररंग की कृपादृष्टि उन पर हुई। पाँव दबाते यतिराज से उन्होंने कहा, "वत्स, मैं जानता हूँ कि तुम मेरा सर्वस्व ग्रहण करने की इच्छा से मेरी सेवा कर रहे हो। आज मैं तुम्हारे प्रति अतीव अन्तुष्ट हूँ। आओ, मैं तुम्हें अपना हृदयगत भाव बताऊँ।" इसके पश्चात् उन्होंने कहा, "वत्स, जो कह रहा हूँ, वही चरम पुरुषार्थ है –

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परं धनम् ।
गुरुरेव पर: कामो गुरुरेव परायणम् ।।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परा गति: ।
यस्मात् त्वदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरु: ।।
उपायश्चाप्युपेयश्च गुररेवेति भावय ।।[२]

– अर्थात् "गुरु ही परब्रह्म हैं, गुरु ही सर्वश्रेष्ठ धन हैं, गुरु ही समस्त काम्य वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, गुरु ही परम आश्रय हैं, गुरु ही ब्रह्मविद्यास्वरूप हैं, गुरु ही श्रेष्ठ गति हैं। वे ही संसार-सागर में तुम्हारे कर्णधार स्वरूप होने के कारण उनसे गुरुतर और कोई नहीं है। स्वयं भगवान भी वे ही हैं और भगवत्प्राप्ति के उपाय भी वे ही हैं।"

२. वेदान्तदेशिक द्वारा अपने 'रहस्यत्रयसार' ग्रन्थ के २८वें अध्याय में सात्यकी तंत्र से उद्धृत।

यह रहस्य सुनकर श्री रामानुज ने स्वयं को कृतार्थ समझा । उनके मन का सारा अभाव दूर हो गया। समस्त कामनाओं से मुक्त होकर वे अनन्त परमानन्दमय हो गये। 'गद्यत्रय' नामक महाग्रन्थ में उन्होंने अपने हृदय के उस विपुल आनन्द को किंचित् परिमाण में व्यक्त किया है। उसी समय से सभी लोग उन्हें श्री रंगनाथ स्वामी के रूप में पूजने लगे।

श्री वररंग नि:सन्तान थे। उनके एक प्रिय छोटे भाई थे, जिनका नाम था शोट्ट-नम्बी। उसे उन्होंने श्री रामानुज का शिष्य बना दिया। कांचिपूर्ण, महापूर्ण, गोष्ठिपूर्ण, मालाधर तथा वररंग – ये पाँच महानुभाव श्री यामुनमुनि के अति अन्तरंग शिष्य थे। यतिराज इनमें से प्रत्येक के पास शिक्षा ग्रहण करके श्री यामुनाचार्य के द्वितीय विग्रह के रूप में सुशोभित होने लगे। क्योंकि उक्त मुनिवर अपने इन पाँच शिष्यों के भीतर पाँच खण्डों में विद्यमान थे। अब श्री रामानुज-विग्रह में उन पाँच खण्डों के एकीभूत हो जाने से मुनिवर उनमें पूर्णाकार विराज करने लगे। यतिराज द्वारा अभिव्यक्त विभूतियों का बाहुल्य ही इसका एकमात्र कारण है। श्री भगवान के साथ साक्षात्कार तथा उनके साथ वार्तालाप करने की शक्ति उनमें विशेष रूप से थी और उसी प्रकार उनमें संसार-ताप से दग्ध लोगों को श्री भगवान के चरणों में ले जाकर उनके समस्त दु:खों को दूर करने की शक्ति भी थी, इसीलिए सभी उन्हें उभय-विभूतिपति[3] कहते। उनका प्रीति-समुद्भासित मुखमण्डल देखकर ही चिर-सन्तप्तों का मनस्ताप दूर हो जाता था।

१७. श्री रंगनाथ-स्वामी के प्रधान अर्चक पर कृपा

दक्षिणी भारत में मुसलमानों का अत्याचार अपेक्षाकृत कम होने के कारण आर्यावर्त की तुलना में वहाँ मन्दिरों की संख्या काफी अधिक है। वहाँ की तुलना में प्राचीन-ऋषिसेवित, गंगा-सिन्धुपूत, हिमालय के नीचे के विस्तीर्ण भूभाग को हम देवालय-शून्य कहें, तो भी वह अतिशयोक्ति न होगी। परन्तु यद्यपि मनुष्य की बुद्धि से उत्पन्न शिल्पकला की महिमा इस प्रदेश में गौरवान्वित हुई है, तथापि यह विचित्र विश्व-ब्रह्माण्ड जिन आदि शिल्पी की रचना है, उन्हीं अतुलनीय, अद्वितीय-ब्रह्माण्डपति-विरचित, साधु-तपस्वीसेवित, परम सौन्दर्य व गाम्भीर्यमय, सत्त्वगुण-प्रधान, उत्तुंग शिखरवान, अचल हिमालय आर्यभूमि का गौरवस्वरूप होने के कारण उसकी तुलना में दक्षिण की गौरवछटा सूर्य के आलोक के समक्ष ज्योत्सना के समान म्लान हो जाती है। मानवीय शिल्प कभी दोषरहित नहीं हो सकता और वह प्रकृति की रचना का अनुकरण मात्र होता है; परन्तु प्रकृति देवी मानो स्वयं ही हिमालयरूपी विराट् मन्दिर का निर्माण कर, चिरकाल से उसमें अपने इष्टदेव की उपासना कर रही हैं। प्राकृतिक एवं कृत्रिम सौन्दर्य के बीच विशेष पार्थक्य है और जैसा कि स्पष्ट है एक की तुलना में दूसरा बिल्कुल ही नगण्य हो जाता है। अतएव बृहत् देवालयों से परिमण्डित होकर भी सौन्दर्य के विषय में दक्षिण को चिरकाल तक आर्यावर्त के ही चरणों में पड़े रहना होगा।

परन्तु यदि प्राचीन हिन्दुओं का शिल्पकौशल देखना हो, तो फिर सीताविरह-सन्तप्त राम के अश्रुवारि से पूत, उनकी सेना की जन्मभूमि दक्षिणपथ में आये बिना उसकी कोई सम्भावना नहीं। यहाँ के मन्दिर आकार एवं उच्चता दोनों की दृष्टियों से विशाल हैं। श्रीरंगम में स्थित श्री रंगनाथ का मन्दिर इतना बृहत् है कि पुजारीगण अपने परिवार के साथ उसी में निवास करते हैं और उनकी भी संख्या इतनी अधिक है कि वहाँ शान्ति बनाये रखने के लिए मन्दिर-प्रांगण में एक अन्य स्थान पर हजार खम्भों के ऊपर एक मण्डप बना हुआ है। जब अंग्रेज तथा फ्रांसीसी दक्षिणी भारत पर प्रभुत्व के लिए संघर्ष कर रहे थे, उस समय सम्पूर्ण फ्रांसीसी सेना ने उस महामण्डप के एक किनारे में आश्रय लिया था। इससे सहज ही मन्दिर की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है।

मन्दिर के सभी पुजारी एक प्रधान-पुजारी के अधीन रहते हैं। उन्हीं के निर्देशानुसार सबको कार्य करना पड़ता है। अत: एक तरह से वे बाकी सबके ऊपर शासन चलाते हैं। पुजारीगण भगवद्भक्ति से अनुप्राणित होकर ही देवपूजा करते हों, ऐसी बात नही, बहुधा धनोपार्जन ही इस सेवा-पूजा का लक्ष्य होता है, अतएव उनका स्वभाव सामान्यत: उतना पवित्र नहीं होता। इन्द्रियों की तृप्ति का साधन होने के कारण ही धन का इतना आदर है। अतएव धन के लोभी इन्द्रिय-सेवा-परायण होते हैं। भगवान की भक्ति इन्द्रिय-लोलुपता को दूर करती है, परन्तु अर्थप्रियता इन्द्रियों के दासत्व का सूचक है। अत: अधिकांश अर्चकगण इन्द्रियों के दास होते हैं। भगवान के विग्रह की अर्चना उनके धनोपार्जन का उपाय होने के कारण ही उनके लिए प्रिय वस्तु है। सभी अर्चक इसी प्रकार के हों, ऐसी बात नही। इनमें से कोई कोई परम भक्तिमान भी देखने में आते हैं। परन्तु अधिकांश: इसके विपरीत ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण समाज में अर्चकों को 'देवल' कहकर हेय माना जाता है।

श्री रामानुज के समय जो प्रधान अर्चक श्री रंगनाथ की सेवा करता था, वह उतना भक्तिमान न था। वह एक धनाढ्य व्यक्ति था और धन के प्रति उसकी विशेष प्रीति थी। धन के द्वारा इन्द्रिय-सुखों का भोग ही उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य होने के कारण, जब भी कोई उसकी प्राप्ति में बाधा-स्वरूप प्रतीत होता, तो वह येन-केन-प्रकारेण उसका उच्छेदन कर डालने का प्रयास करता।

३. लीलाविभूति अर्थात् संसार और नित्यविभूति अर्थात् परमार्थ। (अनु.)

श्री रामानुज की अतुल कीर्ति, उनके प्रति सबका सच्चा अनुराग, श्रीरंगम के सम्भ्रान्त लोगो का उनके लिए उदारतापूर्वक अर्थ व्यय करना, लोगों द्वारा उन्हें श्री रंगनाथ स्वामी का द्वितीय विग्रह मानना और अपने प्रति जनता की पूर्व-श्रद्धा का ह्रास देखकर प्रधान-अर्चक अब शान्त नहीं बैठ सका। वह सोचने लगा कि किस प्रकार इस काँटे से पूर्णरूपेण मुक्त हुआ जाय। दुष्ट हृदय में पैशाचिक उपाय का सहज ही उद्‌गम हो जाता है । अपना कर्तव्य निर्धारित करने के बाद वह अविलम्ब श्री रामानुज के पास गया और उन्हें उसी दिन अपने घर भिक्षा पाने का निमंत्रण दे आया। इसके बाद वह घर लौटा और सहधर्मिणी को बुलाकर बोला, "देख, आज मैं रामानुज को निमंत्रण दे आया हूँ। अन्न के साथ उसे विष देना है, इसीलिए मैंने उस नराधम को निमंत्रण दिया है। उस दुष्ट के जीवित रहने पर हमें शीघ्र ही – हा अन्न, हा अन्न – करते हुए दिन बिताने होंगे। विष-पेटिका कहाँ रखी है, यह तो तू जानती ही है। अधिक और क्या कहूँ! तू बुद्धिमती है, सावधानी के साथ सारा कार्य सम्पन्न करना।" नरपशु की सुयोग्य सहधर्मिणी के हँसते हुए नेत्रभंगिमा द्वारा अपनी कार्यकुशलता व्यक्त करने पर अर्चक ने आनन्दमग्न होकर कहा, "श्री रंगनाथ स्वामी की कृपा से ही मुझे तेरे समान मनोवृत्ति की भार्या मिली है। आज से मैं निष्कण्टक हो जाऊँगा।" यह कहकर वह दुष्ट देवपूजा के लिए श्री मन्दिर की ओर चला गया।

दोपहर में यतिराज भिक्षा पाने पुजारी के घर पहुँचे। अर्चक की पत्नी ने बड़े आदर के साथ उन्हें पाँव धोने को जल दिया और स्वयं ही वस्त्र से उनके चरण पोंछकर बैठने को आसन दिया। यद्यपि उस पापिनी का हृदय वज्र के समान कठोर था, यद्यपि उसने अनेक लोगो को अपने हाथ से विष दिया था, तथापि श्री रामानुज का सारल्यपूर्ण मुखमण्डल तथा उनकी देवतुल्य कान्ति देखकर उसके अन्तर में निश्छल स्नेह का उदय होकर क्रमश: इतना सबल हो उठा कि जब वह विषमिश्रित भोजन लाकर रामानुज के पात्र में परोसने लगी, तो अपने आपको सँभाल नही सकी। वह रोते हुए बोली, "वत्स, यदि अपने प्राण बचाना चाहते हो, तो अन्यत्र जाकर भिक्षा माँगो। यह अन्न ग्रहण करने पर तुम्हें मृत्यु का ग्रास बनना होगा ।"

यह सुनकर श्री रामानुज क्षण भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और सोचने लगे, "मैंने प्रधान अर्चक का ऐसा कौन-सा अनिष्ट किया है, जो वे मेरे प्रति ऐसा भयंकर आचरण करने को प्रवृत्त हुए हैं?" कुछ भी निश्चित कर पाने में असमर्थ होकर वे अन्यमनस्क के समान उठे और कावेरी की ओर चल पड़े। दोपहर बीत चुका था। कावेरीतट की बालुकाराशि धूप से अग्नि के समान तप रही थी। उन्होंने निकट ही गोष्ठिपूर्ण को देखकर उसी ऊष्ण भूमि पर गिरकर रोते हुए उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वे काफी देर तक उसी अवस्था में पड़े रहे।

बाद में गोष्ठिपूर्ण ने स्वयं ही उन्हें उठाकर रोने का कारण पूछा। इस पर उन्होंने आद्योपान्त सब कुछ बताते हुए कहा, "हे गुरो, मैं प्रधानार्चक की मानसिक अवस्था का स्मरण करके रो रहा हूँ। बताइये, इस भयंकर महापाप से उन्हें कैसे छुटकारा मिलेगा?" यह सुनकर गोष्ठिपूर्ण बोले, "वत्स, जब तुम्हारे जैसे महानुभाव उस दुरात्मा के उद्धार हेतु व्याकुल हैं, तो फिर उसे कोई भय नहीं। शीघ्र ही वह पापमार्ग को छोड़ पुण्यमार्ग का पथिक होगा।" गुरु-शिष्य ने एक-दूसरे से विदा ली। श्री रामानुज ने मठ में जाकर देखा कि एक ब्राह्मण विविध प्रकार के भोज्य-पदार्थ लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने उसमें से थोड़ा-सा ग्रहण करके, बाकी समस्त शिष्यों में बाँट दिया और किसी के भी समक्ष उस घटना का उल्लेख न करके निरन्तर अर्चक के लिए शुभकामना में लगे रहे।

इधर अर्चक ने जब घर लौटकर सुना कि उसकी अर्धांगिनी असफल रही है, तो उसके क्षोभ की सीमा न रही। स्त्रियों का मन स्वभाव से ही कोमल होता है, यह सोचकर उसने पत्नी को क्षमा कर दिया और तत्काल एक अन्य उपाय सोचकर वह मन-ही-मन बड़ा सन्तुष्ट हुआ। रामानुज प्रतिदिन सन्ध्या के बाद श्री रंगनाथ स्वामी का दर्शन करने मन्दिर में जाया करते थे। उस दिन भी गये। अर्चक ने उन्हें स्नान का जल पीने को दिया। रामानुज ने पान किया और समझ गये कि इसमें विष मिला हुआ है। परन्तु इससे भयभीत होना तो दूर, बल्कि अति उत्तम तथा पवित्र पीयूष का पान करने से जैसे हर्ष का उदय होता है, उसी प्रकार का हर्ष व्यक्त करते हुए वे श्री रंगनाथ स्वामी को सम्बोधित करके बोले, "हे कृपानिधि, दास पर आपका इतना स्नेह! पता नहीं कौन-से पुण्य के फल से मुझे यह देवदुर्लभ पीयूष प्राप्त हुआ। धन्य है तुम्हारी कृपा!" यह कहकर वे आनन्द में उन्मत्त हो लड़खड़ाते हुए श्री मन्दिर के बाहर चले गये। अर्चक ने सोचा कि विष के प्रभाव से ही उनके पाँव लड़खड़ा रहे हैं। अत: उसके आनन्द की सीमा न रही। वह समझ गया कि अगले दिन प्रात: ही नभ में रामानुज की चिताधूम उठेगी। ऐसा सोच वह निश्चिन्त हुआ, क्योंकि जिस विष का उसने प्रयोग किया था, वह दस बलिष्ठ लोगों को भी एक प्रहर के भीतर यमलोक भेजने में समर्थ था ।

अगले दिन श्री रामानुज की चिताधूम तो आकाश में नहीं उठी, बल्कि सैकड़ों कण्ठों से एक साथ ही – "भज यतिराजं भज यतिराजं भज यतिराजं मूढ़मते" का आनन्द-संकीर्तन नभ को भेदते हुए अर्चक के हृदय को विदीर्ण करने लगा। घर के बाहर आकर उसने देखा कि श्रीरंगम के समस्त नर-नारियों ने श्री रामानुज को विविध प्रकार के पुष्पालंकारों से सज्जित किया है और इस नवरचित गाने के साथ उनके चारों ओर नृत्य कर

रहे हैं। यतिराज के दोनों नेत्र आनन्दवारि से परिपूर्ण थे, बाह्य जगत् का उन्हें बिल्कुल भी बोध न था। उनके मन-प्राण आदि सब भगवान के पादपद्मों में समर्पित हो चुके थे। उनकी यह देवतुल्य कान्ति, अलौकिक ज्योति तथा प्रेममय विग्रह देखकर उस राक्षस के हृदय में भी सत्त्वगुण का संचार हुआ। विष-प्रयोग रूपी अपनी भयानक नृशंसता के बारे में सोचकर और श्री रामानुज को देवतुल्य अमरणधर्मा समझकर वह स्थिर नहीं रह सका। वह भीड़ के बीच से दौड़कर श्री रामानुज के चरणों में जा गिरा।

इस घटना से संकीर्तन थम गया और सबकी दृष्टि प्रधान अर्चक के ऊपर जा पड़ी। तब पश्चात्तापपूर्वक रोते हुए अर्चक ने कहा, "हे यतिराज, आप मानव नही, साक्षात् विष्णु हैं – शरीर धारण करके मेरे जैसे दुष्टात्माओं का उच्छेदन करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। तो प्रभो, और विलम्ब क्यों! शीघ्र ही मुझे यमलोक भेजकर पृथ्वी का भार हरण कीजिए। ओह! मैं कैसा महापातकी हूँ! कितने ही लोगों को विष खिलाकर मैंने उनका नाश किया है। आपका भी विनाश करने का मैंने संकल्प किया था। परन्तु मुझे क्या मालूम कि आप मृत्यु के लिए भी मृत्युस्वरूप हैं। हर प्रलय के समय आपने कितने यमों का नाश किया है और फिर हर प्रलय की समाप्ति पर कितने यमों की सृष्टि की है – इसकी गणना भला कौन कर सकता है? मै बड़ा नराधम हूँ, आपके चरणस्पर्श करने के भी योग्य नहीं हूँ। मुझे समुचित दण्ड देकर मेरे महापातक के प्रायश्चित का विधान कीजिए। मुझे अतीव अन्धकारमय नरक की विविध यातनाओं के बीच फेंक दीजिए। दु:सह यंत्रणा की आग में जलकर सम्भव है कालक्रम से मेरा असीम महापातक थोड़ा कम हो जाय। हे दीनशरण, अब विलम्ब क्यों करते हैं? शीघ्र ही मुझे हाथियों के पाँवों के नीचे या ज्वलन्त अंगारों पर डाल दीजिए। अब मुझे क्षण मात्र को भी जीवन धारण करने की इच्छा नहीं है। नरक, नरक, नरक! तुम कहाँ हो? आओ, आओ और शीघ्र इस महापातकी का ग्रास करो।"

यह कहकर उन्होंने भूमि पर जोर जोर से अपना सिर पटकते हुए उस स्थान को रुधिर से सिंचित कर दिया। निकट स्थित लोगों ने बड़ा प्रयास करके उन्हें थोड़ा रोका। परन्तु वे क्रमश: अधिकाधिक अधीर होने लगे। उन्होंने अपनी छाती पीट-पीटकर उसे भी रक्तरंजित कर लिया। उनका सारा शरीर खून से लथपथ हो गया। उनके नेत्रों की अश्रुधारा भी शोणित से मिलकर लाल हो गयी। उनकी हालत बड़ी ही शोचनीय हो गयी थी। उसी समय श्री रामानुज को बाह्यदशा प्राप्त हुई और उन्होने उनके मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें शान्त किया। उन्होने कहा, "भाई, अब और ईर्ष्या-द्वेष-परायण होकर नृशंस के समान आचरण मत करना। श्री रंगनाथ स्वामी ने तुम्हारे सारे पुराने अपराध क्षमा कर दिये हैं।" अर्चक ने कहा, "क्या! मेरे समान महापातकी पर तुम्हारी इतनी दया! या फिर जब तुम्हारा विग्रह ही दया से गठित है, जब तुमने पापिनी पूतना का विषदग्ध स्तन पान करके उसे अपनी जननी के साथ एक ही लोक में निवास करने का अधिकार दिया है, तब इस नृशंस नराधम के प्रति भी तुम्हारी दया होनी असम्भव नहीं है। अहा! ऐसे दयालु को छोड़कर मैं और किसकी शरण लूँगा? हे दीनशरण, तुम्हारी इस कीर्ति की लोग चिरकाल तक घोषणा करते रहेंगे।" यतिराज स्नेहपरायण होकर उनके शरीर पर हाथ फेरने लगे। उनके हस्त-स्पर्श से अर्चक के समस्त सन्ताप दूर हो गये और नृशंस पिशाच ने देवत्व प्राप्त किया।

❖ (क्रमश:) ❖

कर्म और उपासना

स्वामी भूतेशानन्द

(प्राय: हर साधक के मन में सहज भाव से एक प्रश्न उठता है कि क्या केवल कर्म या साधना मात्र से परम तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है? प्रस्तुत व्याख्यान में रामकृष्ण मठ व मिशन के द्वादश परमाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। श्री सारदा मठ, कोलकाता से प्रकाशित बँगला त्रैमासिक 'निबोधत' के अप्रैल, २००१ अंक से इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी निर्विकारानन्द जी ने किया है। – सं.)

हम लोग जप, ध्यान, पूजा आदि को ही ईश्वरप्राप्ति तथा साधक-जीवन के मार्ग के रूप में जानते हैं। बाल्यावस्था में मैं भी ऐसा ही समझता था, परन्तु बेलूड़ मठ के सम्पर्क में आने पर मैंने देखा कि यहाँ के साधु लोग बहुत-सारा कार्य करते हैं। देखकर बड़ा अच्छा लगा, तो भी बाद में लगा कि यदि साधु होना हुआ, तो मठ में जाकर साधु नहीं बनूँगा। साधु बनने के बाद पेड़ के नीचे रहूँगा। जटा-जूट, चिमटे आदि की बात मन में थी या नहीं - स्मरण नहीं। किन्तु सोचता था कि पेड़ के नीचे निवास करूँगा, भ्रमण करूँगा – जिस प्रकार परिव्राजक साधु अनिकेत होते हैं, उसी प्रकार रहूँगा।

तत्पश्चात् मठ के साथ सम्पर्क हुआ। मैं अपने निजी जीवन की बात कहता हूँ। हमने मास्टर महाशय ('म') के 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक पुस्तक में 'ग्रन्थ-ग्रन्थि' तथा 'पास-पाश' की बात[1] पढ़ी थी। जो कि पढ़ाई-लिखाई के बिल्कुल विरोध में थी। स्कूल में पढ़ते समय ही मैंने निकल

१. श्रीरामकृष्ण अपने पास आनेवाले युवा साधकों को बताते थे कि अनेक 'ग्रन्थ' पढना तथा परीक्षाएँ 'पास' करना बन्धनों (पाश) का कारण होता है।

पड़ने का निश्चय कर लिया था। मठ में भी आना-जाना करता था। तब ज्यादा साधु-ब्रह्मचारी महाराज लोग मठ में नहीं रहते थे। मेरी महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) से भेंट हुई। उन्होंने कहा, "पढ़ाई करनी होगी।" यह तो उल्टी और मुश्किल बात थी। मैं तपस्या करने निकल पड़ा। सोचा – कहाँ जाऊँ? हिमालय की ओर चल पड़ा। पहले भी मैंने दो-चार बार पैदल जाने का प्रयास किया था, परन्तु सफल नहीं हो सका था। तीन दिनों तक भोजन आदि न मिलने से बड़ी असुविधा हुई। उसके बाद टिकट कटाकर कनखल गया। श्रीरामकृष्ण को ज्ञात था कि कनखल हिमालय में स्थित है। उन्होंने कहा था, "मैं इतने ऊँचे तक नहीं चढ़ा।" कनखल पहुँचकर देखा कि वहाँ साधु-महात्मा रहते हैं, परन्तु इनके बीच मैं भला कैसे रहता? मुझे तो ऋषीकेश जाना था।

उन दिनों मिशन के स्वामी दयानन्द जी वहाँ तपस्या कर रहे थे। उन्होंने मुझे बहुत समझाया कि पढ़ाई-लिखाई परम आवश्यक है। उस समय तक मेरी हाई स्कूल की परीक्षा के लिए शुल्क जमा किया जा चुका था। मैंने सोच लिया था कि परीक्षा नहीं दूँगा, परन्तु यह बात भी मन में आ रही थी कि ये साधु-महाराज लोग बारम्बार पढ़ाई करने को कह रहे हैं – कहीं मेरी ही समझ में तो भूल नहीं है! आखिरकार निश्चय किया कि परीक्षा दे ही डालूँ, परन्तु अब लौटूँ कैसे? उन लोगों के पास भी पैसे नहीं थे और मेरी जेब भी खाली थी, क्योंकि मैं लौटने की सोचकर तो गया ही नहीं था। साधु लोग बोले कि हम लोग तो बिना टिकट यात्रा नहीं करते, परन्तु तुम्हारे मामले में तो दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता, क्योंकि परीक्षा सिर पर आ चुकी है। तुम ऐसे ही चले जाओ। पूछने पर कह देना कि टिकट नहीं है और पैसे भी नहीं हैं। उन लोगों ने भिक्षा माँगकर मेरे लिए कुछ रोटियों की व्यवस्था कर दी। वहाँ से मैं चल पड़ा। सूखी रोटियाँ खाते हुए मैं ट्रेन में यात्रा कर रहा था। किसी ने भी टिकट के बारे में पूछताछ नहीं की, परन्तु वाराणसी में एक टी.टी. ने आकर कहा, "टिकट?" मैंने कहा, "टिकट नहीं है और पैसे भी नहीं हैं।" उन्होंने पूछा, "कहाँ से आ रहे हो?" मैंने कहा, "ऋषीकेश से।" यह सुनकर वे बिना कुछ कहे ही चले गये।

उस बार लौटकर मैं एक साधु के आश्रम में ठहरा और वहीं से परीक्षा दी। उसके बाद मैं बेलूड़ मठ जाकर बोला, "अब तो मुझे छोड़ दीजिए।" परन्तु उत्तर मिला – "नहीं, अभी और पढ़ना होगा।" तब मैंने आँखें मूँदकर बी.ए. तक की परीक्षा दे डाली। उसके बाद परीक्षा-हॉल से ही मैं सीधे बेलूड़ मठ जा पहुँचा। अब मेरी न तो पढ़ाई-लिखाई में रुचि थी और न ही कामकाज करने की इच्छा।

पर मठ में रहते रहते क्रमशः बोध होने लगा कि मनुष्य के काल्पनिक और वास्तविक जीवन में काफी भेद है। तब मैं सोचता रहता कि स्वामीजी (विवेकानन्द) ने कर्म करने को क्यों कहा है! **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**। 'आत्मनो मोक्षार्थम्' – तो मेरी समझ में आ गया था, पर 'जगद्धिताय च' तो मैं बिल्कुल भी नहीं समझ सका था। अब धीरे धीरे समझ रहा हूँ। अब वही बात लोगों को बतानी भी पड़ रही है। यहाँ आने के पहले ही बेलूड़ मठ में स्वामी ... ने यही प्रसंग उठाया। मैं बोला, "स्वामीजी ने 'आत्मनो मोक्षार्थ जगद्धिताय च' की बात विशेष रूप से हमारे संघ के लिए कही है। यह बात स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में भी जोर देकर कही है। क्योंकि इसके बिना अर्थात् एक साथ ही कर्म तथा साधना किये बिना जीवन में परिपूर्णता नहीं आती। ऐसी बात नहीं है कि हम लोग साधना में अक्षम हैं, इसलिए (उन्होंने) हमारे लिए कार्य की व्यवस्था की है। कामकाज और साधन-भजन – दोनों ही एक-दूसरे के परिपूरक हैं। किसी के जप-ध्यान करने की इच्छा व्यक्त करने पर स्वामीजी उसमें बाधक नहीं होते थे, परन्तु यदि जीवन को परिपूर्ण करना हो, तो संघ की दृष्टि से 'आत्मनो मोक्षार्थम्' अर्थात् मुक्ति के लिए जप-ध्यान करना जितना आवश्यक है, उतना ही 'जगद्धिताय' अर्थात् विश्व-कल्याणार्थ कर्म करना भी जरूरी है। फिर इन दोनों के विषय में मन का सचेत होना भी जरूरी है। ऐसा नहीं है कि एक को करने से दूसरा उसके by product के रूप में अपने आप होगा। अर्थात् इनमें से किसी एक के करने से भी काम बन जायेगा, ऐसी बात नहीं है। दोनों के विषय में समान भाव न रहने पर जीवन बिल्कुल ही बरबाद हो जायेगा।

'जगद्धिताय' की चेतना न रहने पर 'आत्मनो मोक्षार्थम्' स्वार्थपरता में परिणत हो जायेगा। संघ की दृष्टि से इन दोनों के सम्बन्ध में awareness (चेतना) आवश्यक है। केवल 'जगद्धिताय' कार्य करने पर वह मात्र एक तरह के समाज-सेवा में ही परिणत हो जाता है। इससे सम्भव है कि अनेक लोगों को लाभ हो, परन्तु इससे संघ या व्यक्ति में सर्वांगीण पूर्णता नहीं आयेगी। इसीलिए संघ में – साधु जीवन में इन दोनों के विषय में चेतना की आवश्यकता है। दोनों को ही करना होगा। स्वामीजी कहते हैं कि ये दोनों ही परस्पर सम्बन्धित हैं। यह बात उन्होंने काफी चिन्तन के बाद कही है। तुम लोगों के प्रश्न का उत्तर यहीं समाप्त करता हूँ।

स्वामी विज्ञानानन्द और सेवक वेणी

स्वामी राजेन्द्रानन्द

गुप्त ब्रह्मज्ञानी स्वामी विज्ञानानन्द

जगद्वन्द्य स्वामी विवेकानन्द ने तीर्थराज प्रयाग क्षेत्र में अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण देव के धर्मभाव का प्रचार करने के लिये ऐसे गुरुभाई को चुना, जिनकी वेशभूषा तथा बातचीत से लगता है कि प्रचलित लोक-व्यवहार तथा शिष्टाचार आदि के प्रति उनका कुछ उपेक्षा का भाव था; पर आन्तरिक रूप से वे उच्चकोटि की आध्यात्मिकता तथा अलौकिक दृष्टि से सम्पन्न थे; जिन्हें भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने अपने सोलह लीलापार्षद संन्यासी शिष्यों में से एक चिह्नित करके स्वयं आध्यात्मिक प्रशिक्षण दिया था। धीर-गम्भीर, अपितु बालवत् सरल स्वभाववाले ये ब्रह्मज्ञ महापुरुष थे – स्वामी विज्ञानानन्द।

स्वामी विज्ञानानन्द सन् १९०० से १९३८ ई. तक इलाहाबाद में रहे। श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं से प्रभावित हुए कुछ युवकों ने वहाँ एक 'ब्रह्मवादिन्-क्लब' बना रखा था। १९०० से १९१० ई. तक उन्होंने इसी क्लब के भवन में निवास किया तथा घड़ी के काँटे के समान नियमित जीवन बिताते हुए कठोर तपश्चर्या, सद्वार्ता तथा लेखन कार्य में लगे रहे। १९१० में मुट्ठीगंज क्षेत्र में मठ की स्थापना होने के बाद १९३८ तक उनके इलाहाबाद-निवास का दूसरा चरण था। वैसे तो वे तीर्थ-भ्रमण तथा रामकृष्ण संघ के कार्यों के निमित्त बीच बीच में अन्य स्थानों को भी जाया करते थे, परन्तु स्वामी विवेकानन्द की इच्छा को आदेश मानते हुए अपने जीवन के अन्तिम समय तक वे इलाहावाद में ही रहे।

उनके विराट् आध्यात्मिक व्यक्तित्व की महानता की बात जब फैलने लगी, तो अनेक आध्यात्मिक पिपासु तथा संसार के दु:ख-कष्टों से त्रस्त अनेक नर-नारी उनके सान्निध्य में मार्ग-दर्शन तथा आध्यात्मिकता की शीतल छाया का लाभ उठाने हेतु उनके चरणाश्रित होने लगे।

मठ में रहते हुए तपश्चर्या लेखन के अतिरिक्त जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करते हुए उन्होंने लोकसेवार्थ दातव्य चिकित्सालय भी खोला, जिससे यह पता चलता है कि अन्तर्मुखी होते हुए भी वे संसार के दु:खों के प्रति उदासीन नहीं थे। साधारणतया उनके अन्तर्मुखी स्वभाव, मितभाषिता तथा गम्भीर प्रकृति के कारण कई बार अनेक दर्शनार्थियों को उनसे सहज भाव से बातें करने का साहस भी नहीं होता था। इतना ही नही कई बार तो वे ऐसा व्यवहार या आचरण करते थे कि सामान्य मनुष्य की दृष्टि मे वे सनकी प्रतीत होते थे। उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को देखते हुए यह अनुमान कर पाना कठिन होता था कि वे अभियान्त्रिकी, ज्योतिष, खगोल, गणित तथा धर्मशास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् हैं। उनकी देखरेख में बेलूड़ मठ मे स्वामी विवेकानन्द की परिकल्पना के अनुसार युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण देव के एक ऐसे मन्दिर का निर्माण हुआ, जिसमें न केवल यूनानी, रोमन, सारासेनिक तथा भारत की अनेक स्थापत्य तथा शिल्प-कलाओं का मिलन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु साथ ही ऐसी सुव्यवस्था, नियमितता तथा उत्कृष्टता झलकती हुई दिखाई देती है कि उनकी निर्माण-शैली मन्दिर-स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक नये युग का शुभारम्भ करती है।

फिर उन्हें इतनी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ या दिव्य दर्शन हुए थे कि कहा जाता है कि इस क्षेत्र में स्वामी ब्रह्मानन्द के बाद उनका ही स्थान है। बहुआयामी प्रतिभा तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न होते हुए भी स्वामी विज्ञानानन्द अपने व्यक्तित्व के उत्कृष्ट पक्षों को गोपन करके ही रहते थे।

आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में स्वामी विज्ञानानन्द जी के निर्णय एकदम स्पष्ट तथा अलौकिक दृष्टि से सम्पन्न होते थे। किसी मनुष्य का मन किस प्रकार का है यह वे उसे देखते ही समझ जाते थे। आम तौर पर गम्भीर रहते हुए भी किसी साधारण-से-साधारण व्यक्ति पर कृपा, प्रेम तथा स्नेह करने की तथा एक अपनढ़ व्यक्ति के जीवन का रूपान्तरण कर देने की जो चमत्कारिक कला उनमें थी, उसका प्रमाण हमें उनके प्रिय सेवक वेणी के जीवन से मिलता है। उत्तर प्रदेश के इस अशिक्षित, निर्धन तथा पितृहीन बालक के जीवन का महाराज ने ऐसे अद्भुत ढंग से कायापलट कर दिया था, जिसे केवल अहैतुकी कृपा का परिणाम ही कहा जा सकता है।

विज्ञान महाराज के सामने खड़े होने में भी एक प्रकार का भय लगता था। पुराने भक्त भी उनके सामने अधिक ठहरने का साहस नहीं कर पाते थे। अन्य लोगों को महाराज के साथ बातचीत करने में चाहे जितना ही संकोच या भय लगता रहा हो, परन्तु उन्हें 'बाबा' कहकर सम्बोधित करनेवाला एकमात्र वेणी ही ऐसा था, जो उनके साथ बातचीत या व्यवहार करते समय जरा भी संकोच नहीं करता था।

शरारती बालक

इलाहाबाद के मुट्ठीगंज आश्रम में विज्ञान महाराज के पास वेणी कैसे पहुँचा, इसके बारे में उसने स्वयं ही एक भक्त को बताया था। जब वह अभी दस-बारह वर्ष का बच्चा था, तो मुट्ठीगंज मुहल्ले के नटखट और शरारती बच्चों के दल में शामिल होकर महाराज को तंग किया करता था। बच्चों का यह दल महाराज को चिढ़ाने के लिये कभी तो शोर मचाता और कभी महाराज को सुनाते हुए जोर जोर से चिल्लाकर कहता – "मुठिया बाबा मरेंगे, हम दाल रोटी खायेंगे।" गम्भीर प्रकृति वाले महाराज को यह शोर पसन्द नहीं होता

था। अत: कई बार वे बच्चों को इस प्रकार चिल्लाने तथा शोर मचाने से मना करते और डाँटते भी थे। एक दिन महाराज ने बच्चों के इसी दल में से वेणी को अलग करके उसे डाँटा।

इस घटना के कुछ दिनों बाद ही वेणी के चाचा ने उससे कहा – तुम्हें मुट्ठीगंज आश्रम में काम करना होगा। यह सुनते ही उसने भयभीत होकर कहा, "बाप रे, मैं तो वहाँ बिल्कुल नहीं जाऊँगा, वहाँ जाने से तो बाबा मुझे मार ही डालेंगे।" वेणी के भय को समझकर उसके चाचा ने उसे समझाया, "नहीं रे , बाबा तुझे प्रेम से रखेंगे। उन्होंने ही मुझे यह बात कही, वे तो तुम्हें ही चाहते हैं।"

महाराज के साथ सहज सम्बन्ध

इस प्रकार महाराज ने अपने चिह्नित सेवक को अपने पास खींच लिया। दिनों-दिन वेणी उनका प्रियपात्र तथा स्नेहभाजन होता गया और दस-बारह वर्ष की अल्पायु में ही आश्रम में आकर उसने सालों-साल महाराज की सेवा की तथा उनके देहत्याग के बाद अपने जीवन के अन्तकाल तक वह इलाहाबाद आश्रम में ही रहा। महाराज ने उसे विशेषकर दो हिदायतें दी थीं – एक तो शादी मत करना और दूसरा इलाहाबाद का मठ छोड़कर मत जाना।

विज्ञान महाराज गम्भीर स्वभाव के थे और जान-बूझकर अपने व्यक्तित्व या महानता का हर किसी को पता नहीं लगने देते थे। पर भीतर से उनका स्वभाव सरल था और वे भी बच्चों के समान हास्य-विनोद पसन्द करते थे। और वेणी से तो वे इतना खुलकर हँसी करते थे मानो वह उनका घनिष्ठ परिचित या मित्र हो; पर साथ ही उनके आपसी व्यवहार को देखते हुए लगता है कि इनके सम्बन्ध के पीछे कोई अलौकिक या अपार्थिव कारण रहा होगा। क्योंकि विज्ञान महाराज ने निरक्षर तथा निर्धन वेणी को जिस स्तर तक पहुँचा दिया था, उसके आधार पर तो ऐसा सोचने को बाध्य होना पड़ता है।

आनन्दमय परिवेश

विज्ञान महाराज एक ब्रह्मज्ञ महापुरुष थे और यह कह पाना कठिन होगा कि वेणी को इस विषय में सम्यक् धारणा थी या नहीं; परन्तु महाराज के सेवक होने के नाते वह एक तरह के आनन्द-मिश्रित गौरव का अनुभव करता था और महाराज भी उस पर खूब निर्भर करते थे। वे जब तब उसका नाम लेकर पुकारते और उसके साथ हँसी-विनोद भी करते। कभी उससे पूछते, "अच्छा वेणी, बता तो, अभी तो दिन है या रात?" एक बार महाराज ने किसी भक्त के सामने ही उससे कहा, "वेणी, तुम सोते बहुत हो।" वेणी ने भी तत्काल उत्तर दिया, "बाबा, तुम बड़बड़ाते बहुत हो।" उसकी यह बात सुनकर महाराज भक्त की ओर उन्मुख होकर हँसते हुए बोले, "सुनो, इसकी बात!" ऐसा था वेणी और महाराज के आपसी वार्तालाप का ढंग। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि वेणी पर नौकर जैसा हक जताना तो दूर रहा, महाराज ने अपने विराट् आध्यात्मिक व्यक्तित्व का भी उस पर कभी ऐसा प्रभाव नहीं डाला, जिससे वह स्वयं को हीन समझने लगे।

कभी कभी महाराज वेणी और बड़े मियाँ के साथ खुलकर सरल विनोद करते, तो उनके कमरे से जोर जोर से हँसी के ठहाकों की अवाज आने लगती। बड़े मियाँ एक निष्ठावान मुसलमान थे, जो महाराज का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये मठ में आते थे। वे घोड़ागाड़ी चलाते थे। वे प्रतिदिन आश्रम में चाय आदि पीकर और महाराज के सत्संग का आनन्द लेने के बाद अपने काम पर निकलते थे। वे आश्रम के लिये चन्दा भी इकट्ठा करते थे। महाराज ऊँच-नीच का भेद नहीं, बल्कि आदमी का मन देखते थे।

महाराज के साथ इस प्रकार के हँसी तथा आनन्द के वातावरण में वेणी कैसे जान सकता था कि बाबा कितने बड़े महापुरुष हैं? उनके साथ व्यवहार करते हुए शिष्टाचार का प्रदर्शन वेणी के स्वभाव में ही नहीं था। शिष्टाचार उसे नहीं मालूम था। वह तो बस एक ही बात जानता था कि महाराज की प्रेमपूर्वक सेवा कैसे की जाय। अशिक्षित, सरल, निष्कपट तथा स्पष्टवादी वेणी निर्मलता तथा प्रेम से परिपूर्ण था। अन्यथा उसे विज्ञान महाराज का आश्रय ही क्यों मिलता?

सेवाधिकार व संरक्षणप्राप्त वेणी

महाराज का भी वेणी के प्रति अद्भुत प्रेम था। वे सर्वदा वेणी को अपने पास देखना चाहते थे। यहाँ तक कि वेणी के बिना मानो उनका कोई काम ही नहीं हो पाता था। उनकी सेवा का एकमात्र अधिकार मानो वेणी को ही मिला था। एक बार जब विज्ञान महाराज बेलूड़ मठ में बहुत बीमार हो गये, तो वहाँ के सेवक की परिचर्या उन्हें पसन्द नहीं आयी और उनके आदेशानुसार तार देकर इलाहाबाद के वेणी को बुलाया गया। वेणी के आकर सेवाभार सँभाल लेने पर ही वे निश्चिन्त हुए।

वेणी के सामने उन्होंने त्याग का उच्च आदर्श रखा था। बीच बीच में वे वेणी से कहते, "वेणी, तू शादी न करना।" वेणी भी उस समय उनकी बात को मान लेता, परन्तु उससे क्या? गाँव में उसके सगे-सम्बन्धी भी तो थे! और एक ऐसा भी दिन आया जब घरवालों ने वेणी के विवाह की व्यवस्था करके उसे गाँव में बुला भेजा। अब तो वह बड़ी मुश्किल में पड़ा। वह भलीभाँति जानता था कि महाराज उसे शादी के लिए जाने की अनुमति नहीं देंगे और बिना उनकी अनुमति लिए वह आश्रम से निकल भी कैसे सकता था! बहुत उधेड़-बुन के बाद उसने निश्चित किया था कि गहरी रात के समय महाराज के सो जाने पर वह चुपचाप निकल जायेगा। निर्धारित योजना के अनुसार जब वह रात के सन्नाटे में बाहर निकलने

को हुआ, तो अपने कमरे से द्वार पर आते ही उसने देखा – महाराज सामने ही एक बड़ी कुर्सी पर विराजमान हैं। वेणी तो विस्मित रह गया। उसने सोचा कि इस समय तो महाराज के यहाँ होने का कोई कारण नहीं। फिर वह रास्ता छोड़कर जब वह दूसरे रास्ते से निकलने लगा, तो वहाँ भी उसे वही दृश्य दिखाई दिया। इसके बाद वेणी ने तीसरे मार्ग से बाहर जाने की चेष्टा की, पर – महाराज को कुर्सी पर हाजिर पाया। इस प्रकार बारम्बार महाराज के सामने आ जाने के कारण वेणी ने हार मानकर अपने कमरे में लौट आना ही उचित समझा। तभी से उसके मन में एक ऐसा अद्‌भुत परिवर्तन आया कि उसके मन से विवाह की इच्छा का ही पूरी तौर से लोप हो गया और वह निश्चिन्त होकर सो गया।

अगले दिन प्रात: वेणी जब यथारीति महाराज के लिये चाय लेकर उपस्थित हुआ, तो महाराज उसकी ओर देखते हुए मन्द-मन्द हँसने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने पूछा, "वेणी, शादी करोगे?" वेणी अपनी भूल समझ चुका था, अत: इस बार उसने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "नहीं बाबा, कभी नहीं।"

विशेष स्नेहास्पद

महाराज का फोटो लेना या उन्हें निमंत्रण देकर कहीं ले जाना – इन दो बातों के लिये महाराज को मनाना भक्तों के लिए टेढ़ी खीर थी। यदि कोई महाराज की फोटो लेना चाहता तो वे वेणी की फोटो लेने को कहते। एक समय तो आश्रम में सर्वत्र वेणी के ही विविध प्रकार के फोटो दीख पड़ते थे – किसी में वह खड़ा है, किसी में कुर्सी पर बैठा है, तो किसी में सिर पर पगड़ी बाँधे हैं आदि। एक बार महाराज ने एक अच्छे चित्रकार से वेणी का एक विशाल तैलचित्र भी बनवाया था।

एक बार विज्ञान महाराज ने स्वामी अजयानन्द को एक लिफाफे पर इस प्रकार लिखने को कहा – Dr. Veni Madhav, M.A., B.L., L.L.D. तथा इसके बाद उनसे आश्रम का पता भी लिखवाया। विस्मित होकर स्वामी अजयानन्द ने इतनी लम्बी डिग्रीवाले सज्जन के प्रति जिज्ञासा के भाव से पूछा, "महाराज ये कौन हैं?" यह प्रश्न सुनकर विज्ञान महाराज हँसने लगे। पास खड़े एक साधु के इशारे से जब स्वामी अजयानन्द को पता चला कि महाराज अपने पुराने सेवक वेणी की ही बात कर रहे हैं, तो वे भी अपनी हँसी न रोक सके।

महाराज तथा पड़ोस के लोगों के अतिरिक्त वेणी भक्तों से भी घुल-मिल गया था। १९२४ में बिहार में आये भूकम्प में जब एक भक्त के गाँव का मकान गिर गया, तो उसने वेणी को अपने परिवार के लिये इलाहाबाद में एक किराये का मकान ढूँढ़ने के लिये कहा था। वेणी कभी सहसा किसी भक्त के घर जाकर महाराज का सन्देश पहुँचाता। कभी महाराज अपने हाथ से भक्तो के लिये चाय तैयार करते, तो वेणी कप-प्लेट, चाय, चीनी तथा गरम पानी का प्रबन्ध करके उनका हाथ बँटाता। और कभी वह अतिथि साधुओं और भक्तों की सेवा करता। आश्रम की आर्थिक स्थिति ठीक न होने से कभी कभी आश्रम में भोजन नहीं भी बनता था। ऐसे समय वह भक्तों के घर से आश्रम के लिए भोजन ले आता था। जब कोई स्वयं अपनी बात महाराज से कहने में हिचकिचाता, तो वेणी उसे महाराज तक पहुँचा देता। आश्रम के बाहर यदा-कदा बच्चों का शोर होता रहता था। नीरवताप्रिय महाराज के डाँटने पर यदि कभी कोई बच्चा रो पड़ता, तो वे वेणी द्वारा उसे बुलाकर, प्रसाद का बताशा आदि देकर उसे चुप कराते थे।

साधुओं से सम्बन्ध

वेणी साधु-ब्रह्मचारियों से भी विनोद करके आनन्द लेता था। स्वामी सत्यकामानन्द जी ने इस विषय में एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा हैं – "सन् १९३६ के आसपास की बात है। एक दिन सुबह मैं महाराज को प्रणाम करके खड़ा था। आसपास कुछ संघभ्राता तथा परिचित लोग भी थे। महाराज सहसा एक शरारती बालक की तरह मेरी ओर इंगित करके बोल उठे, 'जानते हो, ये लुक-छिपकर तम्बाकू पीते हैं।' सुनकर मैं तो अवाक् रह गया कि यह कौन-सा झमेला खड़ा हुआ। खैर, जो होना था, हो चुका था, अत: मैं भी सबके साथ उस हँसी में सम्मिलित हो गया। फिर मन में प्रश्न उठा कि यह छोटी-सी बात महाराज तक पहुँची कैसे? बहुत सोच-विचार के बाद मन में आया कि महाराज के पुत्रतुल्य वेणी ने ही यह शरारत की है। सम्भवत: १९३५ के सितम्बर के आरम्भ में पूज्यपाद स्वामी शुद्धानन्द जी महाराज के सेवक के रूप में मैं प्रयाग आश्रम गया था। वे मई से अगस्त तक के तीन महीनों के दौरान देहरादून, दिल्ली आदि होकर बेलूड़ मठ लौटते समय प्रयाग में ठहरे थे। शुद्धानन्द जी तम्बाकू पीना पसन्द करते थे। हुक्का साथ में ही था। तम्बाकू डालकर तथा जरूरत होने पर मैं हुक्के को चालू करके उन्हें देता था। चतुर वेणी की नजरों से भला यह दृश्य कैसे छुपा रह पाता। सेवक स्वामी के हुक्के से कश लगा रहा है – इस रोचक बात की सूचना देने के लोभ व आनन्द को वह संवरण नहीं कर पाता?

आध्यात्मिक जागरण

यह कहना कठिन है कि महाराज के साधु-जीवन के उच्च आदर्श को वेणी ने कितना आत्मसात् किया था, पर महाराज की अहैतुक कृपा तो उस पर पक्की थी। वैसे तो भक्तों ने भी उनकी अपार कृपा प्राप्त की थी, परन्तु वेणी पर महाराज की कृपा कुछ अलग ही थी। एक बार महाराज एक भक्त से बार बार कह रहे थे, "वेणी तो बस सोया ही रहता है।" सुनकर भक्त को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि शाब्दिक अर्थ में तो वेणी उस समय सोया हुआ नहीं था। फिर महाराज ऐसा क्यों कह

रहे थे – वेणी के आध्यात्मिक जागरण के लिये? विज्ञान महाराज की रहस्यमयी बातों को कौन समझे? पर उनकी कृपा से यथाकाल वेणी का आध्यात्मिक जागरण हुआ था। एक बार वेणी ने महाराज से कहा, "आप कितने ही लोगों को गुरुमंत्र दे रहे हैं, मुझे नहीं देंगे?" महाराज बोले, "तुम जिस प्रकार सेवा कर रहे हो, उसी से तुम्हारा सब कुछ हो जायेगा।" बाद में उन्होंने वेणी को मंत्रदीक्षा भी दी थी।

कोई-कोई भक्त विज्ञान महाराज को प्रणाम करने के बाद वेणी को भी प्रणाम करते थे। इससे वेणी को बड़ा संकोच होता। वह बिल्कुल नहीं चाहता था कि भक्त उसे भी प्रणाम करें। एक दिन इस विषय में उसने महाराज से पूछा, "बाबा, ये लोग ऐसा क्यों करते हैं? मैं तो सामान्य आदमी हूँ और ये गणमान्य लोग हैं, फिर क्या सोचकर ये मुझे प्रणाम करने चले आते हैं?" उत्तर में महाराज ने अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए कहा, "देख, यह शरीर श्रीरामकृष्ण को स्पर्श करके धन्य हो चुका है और तू दिन-रात इसी शरीर की सेवा कर रहा है, इसीलिए ये लोग तुझे प्रणाम करने आते हैं।

इससे पता चलता है कि महाराज वेणी को नौकर की तरह नहीं, परन्तु अपनी सन्तान की तरह रखते थे। वेणी से कोई गलती होने पर कभी-कभी वे उसे कड़ी फटकार भी लगाते थे। परन्तु फिर प्रेम से उसे वेणी बाबू कहकर भी सम्बोधित करते थे। उनके बीच यह घनिष्ठता अत्यन्त प्रगाढ़ थी।

१९३४ में विज्ञान महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष एवं १९३७ में अध्यक्ष नियुक्त हुए। श्रीरामकृष्ण के जिन चार शिष्यों ने इस महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक दायित्व को निभाया, उनमें वे अन्तिम थे। १९३२ में उन्होंने पहली बार मुम्बई में दीक्षा दी थी। एक बार वे बेलूड़ मठ से गुरुदक्षिणा में मिले कपड़ों आदि को नये खरीदे हुए दो ट्रंकों में भरकर इलाहाबाद ले आये और बच्चों की तरह सब खोल-खोलकर वेणी को इस प्रकार दिखाने लगे जैसे कोई अपने विशेष आत्मीय को दिखाता है। वस्तुएँ दिखाते हुए वे कहने लगे, "देख वेणी, कलकत्ते से कैसी-कैसी चीज लाया हूँ।" अपने प्रिय वेणी को सब दिखाना हो गया कि बस – उसके बाद ट्रंक बन्द। शायद महाराज किसी को दिखाने की जरूरत ही नहीं समझते थे। अन्तिम बार कलकत्ता से इलाहाबाद लौटने के बाद महाराज बीमार हो गये। उनका शरीर तो पहले से ही ठीक नहीं था, पर अब कष्ट और बढ़ गया। वैसे बीमारी के दौरान महाराज का सिद्धान्त होता था – **औषधं जाह्नवीतोयं वैद्योनारायण: हरि:**। रोग अधिक बढ़ने पर मुख्यत: वेणी ही उनकी देखभाल करता था। महाराज को आभास हो गया कि उनका शरीर अब अधिक दिन नहीं रहेगा। इसके लिये वे तैयार थे, क्योंकि उन दिनों उनके मुख से दिन-रात या तो 'माँ, माँ' की पुकार होती या कभी-कभी कहते, 'चलो जी'। अपने देहत्याग के बारे में उन्होंने वेणी को बता दिया था। वेणी जानता था कि महाराज की बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती, अत: महाराज के अन्तिम दिनों में वह उनके शारीरिक कष्टों को देख फूट-फूटकर रोते हुए कहता, "अब बाबा नहीं रहेंगे।" उसकी नेत्रों से सर्वदा आँसू बहते। प्रेम का यह कैसा अद्भुत सम्पर्क था।

वैराग्यवान वेणी

इतने वर्षों से एक ब्रह्मज्ञ महापुरुष के संग तथा कृपा से वेणी एक आश्चर्यजनक मनुष्य में परिणत हो चुका था। उसकी गुरुसेवा तथा आज्ञाकारिता के कारण जिस प्रकार उसकी निष्ठा दर्शनीय थी, उसी प्रकार उसमें वैराग्य और अनासक्ति का भाव भी प्रज्वलित हो उठा था। महाराज पर प्रेमपूर्ण विश्वास तथा निर्भरता ने उसे मुक्तिपथ दिखा दिया था। धन के प्रति लिप्सा उसमें लेशमात्र भी न थी तथा किसी भी भोग्य वस्तु के प्रति उसमें रंचमात्र भी लोभ न था। उसे घर के प्रति कोई खिंचाव न था। किस प्रकार गुरु तथा परमात्मा में उसकी अचल भक्ति तथा श्रद्धा दृढ़ हो गयी, यह अगले प्रसंगों से स्पष्ट होता है।

देहत्याग के कुछ दिन पूर्व महाराज ने वेणी को कुछ माँगने को कहा। वेणी बोला, "बाबा, यदि तुम्हीं चले जाओगे, तो मैं क्या लेकर रहूँगा?" उसे महाराज के बिछुड़ने की कल्पना ही असह्य प्रतीत हो रही थी। महाराज ने पुन: कहा, "ठीक से सोचकर बता, यदि जरूरत हो, तो मैं तेरे लिए कुछ रुपयों की व्यवस्था कर जाऊँगा, ताकि पैसों की कमी से तुझे कष्ट न हो। पर वेणी के मन में तो महाराज का प्रेम पूरी तरह घर कर चुका था, उसमें पैसे के लिए जगह ही कहाँ थी। अत: उसने फिर कहा, "रुपयों से क्या होगा? रुपये नहीं चाहिए।"

अहैतुकी कृपा तथा परमतत्त्व प्राप्त निष्ठावान वेणी

गुरु रूप में महाराज की अहैतुक कृपा और अहैतुक प्रेम ने वेणी का आन्तरिक जीवन ऐसा बना दिया था कि जब महाराज ने उसे कुछ माँगने के लिये जोर दिया, तो सरल वेणी ने महाराज से ऐसी पारमार्थिक वस्तु माँगी कि अवसर मिलने पर कई बार जिस का महत्व बड़े बड़े साधक भी नहीं समझते और ऐसा अवसर मिलने पर तुच्छ भोगों या वस्तुओं को ही माँग कर एक महान् अवसर को गवाँ बैठते हैं। धन का प्रस्ताव न मानते हुए तब वेणी ने हाथ जोड़कर महाराज से कहा, "बाबा, आपकी कृपा से मुझे सब कुछ मिल चुका है। मैं आपसे और कुछ नहीं चाहता, केवल यही आशीर्वाद दीजिए कि ठाकुर पर मेरी अचला भक्ति रहे।" वेणी की यह प्रार्थना सुनकर महाराज ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा था, "वेणी, यदि इस हाथ से मैंने कभी ठाकुर की तनिक भी सेवा की हो, तो आशीर्वाद देता हूँ कि उनके चरणों में तुम्हारी अचला भक्ति रहेगी।" (तब वह ३४-३५ वर्ष का था।)

अप्रैल १९३८ में महाराज के देहत्याग के बाद वेणी मानो पितृहीन हो गया। उस समय चेहरे का भाव देखकर भक्तों का मन भी दु:ख से भर जाता था। महाराज के देहावसान के बाद उसने अपना सारा जीवन मुट्ठीगंज आश्रम में ही बिताया। इस विषय में महाराज के निर्देश का उसने निष्ठा से पालन किया था, क्योंकि महाराज के इस स्थान के प्रति उसके मन में भी एक विशेष लगाव था।

महाराज की दिव्य उपस्थिति

महाराज की महासमाधि के एक दिन बाद ही वेणी को उनका दर्शन मिला। उसने बताया था कि महाराज ने उसके सामने खड़े होकर कहा, "वेणी, हमारे लिये चाय तैयार करो।" तुरन्त आदेश का पालन करते हुए वेणी ने चाय बनाकर पूजाघर में रख दिया। इसके बाद भी अनेक बार उसे महाराज के दिव्य दर्शन हुए। वह बताता, "बाबा, आश्रम छोड़कर नही गये हैं, यह भावना मन मे रखने से उनके दर्शन होते हैं।" एक दिन उसने अपनी भाषा में कहा था, "हम सो रहा था, तो देखा बाबा हमारा पास खड़े हैं। हमको कई दफे बाबा का दर्शन मिला है। और हम पूछा है, कितना दिन हमें यहाँ रहना होगा, तो कुछ उत्तर नहीं मिला।"

इस घटना से अनुमान किया सकता है कि महाराज उसे कितना मानते थे। एक बार एक भक्त ने वेणी से कहा था, "तुमने महाराज की कितनी सेवा की है, उनकी कितनी प्रीति एवं कृपा पाई है और आज भी उनके दर्शन पा रहे हो। वेणी, तुम बड़े भाग्यवान हो।" यह सुनकर वह भक्त की ओर देखते हुए केवल हँस दिया। उसकी वह हँसी निर्मल और अहंकार-रहित थी। भक्त का मत है कि शायद उस समय वेणी की भीतर-ही-भीतर साधना चल रही थी; अत: भक्त की बात का उत्तर कौन दे? शायद इसीलिए वह केवल हँस दिया।

इसी प्रकार १९५० ई. में एक बार एक संन्यासी ने उसे स्वामी विज्ञानानन्द विषयक अपने कुछ संस्मरण सुनाने का अनुरोध किया। विज्ञानानन्द महाराज का नाम लेते ही उसका चेहरा उदास और आँखें मायूस हो गयीं। महाराज पर उसका ऐसा ही अगाध प्रेम था।

महापुरुष के संगलाभ से वास्तव में ही वेणी एक अद्भुत मनुष्य बन गया था। महाराज की कृपा से उसने मानो अनचाहे और अनजाने मे ही पारमार्थिक परम तत्त्व की प्राप्ति कर ली थी, क्योकि इस का आभास महाराज के देहत्याग के बाद उसमें पाया जाता था। तब वह एकदम अलग ही दिखता था। दिन-रात मन में न जाने क्या सोचता रहता था। आश्रम का काम तो वह तब भी करता था, परन्तु उसका मन कहीं और ही खिचा रहता था। कभी-कभी तो वह गुमसुम बैठा आकाश की ओर ताकता रहता था।

अनासक्त वेणी

वेणी में एक असाधारण अनासक्ति का भाव भी उदित हो उठा था। एक बार उसने एक भक्त से स्वेटर माँगी और उसे पाकर आनन्दित हुआ। केवल कुछ दिनो तक उसका उपयोग करने के बाद उसने वह स्वेटर किसी और को दे दी। उन्ही भक्त की माताजी से प्राप्त एक कीमती शाल भी वेणी ने किसी अन्य को दे दी थी। सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसका जरा भी लगाव नहीं रह गया था। यह इस बात से भी पता चलता है कि वेणी द्वारा पैसा लेने से इन्कार करने पर भी महाराज उसके लिये २०००/- रु. छोड़ गये थे। परन्तु वेणी भी अपनी धुन का पक्का रहा और उसने वे रुपये आश्रम के उपयोग के लिए दे दिये थे।

वेणी का अन्तकाल

१९३८ ई. में वेणी के घर से अनेक सगे-सम्बन्धी आकर उसे घर लौट चलने तथा विवाह कर लेने का आग्रह करने लगे। उन लोगो ने सोचा था कि महाराज का जब उसके ऊपर विशेष स्नेह था, तो वे अवश्य ही उसके लिए कुछ रुपये-पैसे छोड़ गये होंगे और उनके एकनिष्ठ सेवक होने के कारण शायद आश्रम से भी कुछ मिल जाय। परन्तु वेणी ने उनकी एक न सुनी। वह केवल यही कहता रहा, "महाराज मुझे यहाँ छोड़ गये हैं, मैं यहीं पर अन्तिम साँस लूँगा।"

इसके अनेक वर्षो बाद वेणी बहुत बीमार हो गया। स्वामी शंकरानन्द जी उन दिनों वाराणसी के सेवाश्रम में थे। उनका भी वेणी से बड़ा लगाव था। उन्होंने इलाहाबाद आश्रम के तत्कालीन अध्यक्ष को बारम्बार लिखा कि वे उसकी चिकित्सा के लिए वाराणसी भेज दें। परन्तु वेणी अपने संकल्प पर अडिग रहा। वह विनीत भाव से कहता रहा, "बचपन में ही महाराज के आश्रम में आया था, उन्हीं के प्रेम से बड़ा हुआ हूँ; कृपा करके मुझे यहाँ से ले जाने का प्रयास न करें। मैं यह आश्रम छोड़कर नही जाना चाहता।" वेणी का ऐसा सन्देश पाने के बाद शंकरानन्द जी ने स्वयं ही इलाहाबाद जाकर उसे समझा-बुझाकर वाराणसी लाने का संकल्प किया। वेणी को इस बात की सूचना मिली थी। अब दैवयोग कहे या रोग के कारण कहें, शंकरानन्द जी जिस दिन इलाहाबाद पहुँचे, उसी दिन वेणी ने चेतनावस्था में ही देह त्याग दिया। इस प्रकार एक अद्भुत सेवक की अद्भुत लीला समाप्त हुई।

(प्रत्यक्षदर्शीर स्मृतिपटे स्वामी विज्ञानानन्द' नामक बँगला पुस्तक से संकलित तथा अनुवादित)

स्वनिन्दा अनुचित है

भैंरवदत्त उपाध्याय

आत्मानं न निन्द्यात् – अपनी निन्दा मत करो। जैसे परनिन्दा बुरी है, वैसे ही आत्मनिन्दा भी निन्दनीय है। अपनी बुराई गलत है। स्वय को पतित और लघु समझकर दुःखी मत होइए, छोटा मत समझिए, असहाय, अशक्त, निरुपाय, निर्बल, अकिंचन, महत्त्वहीन और व्यर्थ मत मानिए। बात-बात में अपने को कोसना, अपने ऊपर क्रोध करना, छोटी-मोटी असफलताओं, पीड़ाओं तथा विपत्तियों पर अत्यन्त दुखी हो जाना, हताशा और निराशा से भर उठना, जहाँ आपके व्यक्तित्व को कमजोर बनाता है, वहीं आपके विकास की सम्भावनाओं को भी क्षीण करता है। अतः आप अपने आपको सराहिए, सौभाग्यशाली मानिए और हीन-ग्रन्थियों से उबरिए। यदि आपके मन में हीनता की ग्रन्थियाँ प्रवेश कर गयी हैं, तो आप अपने तन और धन से भले ही बड़े हों, पर मन से अवश्य बौने हो जायेंगे और मन का बौनापन बड़ा ही घातक होता है। बौना मन पराजय के सागर में डूबता है, निराशा के अन्धकार में भटकता है और जीवन की ऊँचाइयों पर पहुँचानेवाले मार्ग पर चलने से कतराता है। उसमें सकल्प-शक्ति नहीं होती, भ्रम-शका और मिथ्या भय से ग्रसित रहता है। उसमें न जातीय और न ही वैयक्तिक अह होता है, व्यष्टि और समष्टि की चेतनाएँ भी मृत हो जाती हैं।

आत्मनिन्दा आपके जीवन की किसी समस्या का समाधान नहीं है। यह जीवन के कुरुक्षेत्र से पलायन है। मुमूर्षा और विध्वस की घातक प्रवृत्ति की परिचायिका है। यह उन्माद की अवस्था है। पापी-चेतना अथवा अपराधी-बोध है। व्यक्ति को पाप का बोध होना चाहिए, जिससे वह व्यक्ति अथवा समाज के प्रति कोई भी गलत कार्य न कर सके। उसे अपनी आत्मा को, अपने आपको पापी-अपराधी समझना उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा तो शुद्ध और बुद्ध है, निष्पाप और निष्कलुष है। अपराध-बोध और अपराधी-बोध भिन्न-भिन्न हैं। जब व्यक्ति में अपराध-बोध होगा, तब वह अपराध नहीं करेगा और भटके हुए मार्ग से पुनः सत्य-मार्ग पर आने की सम्भावना होगी, पर जब व्यक्ति में अपराधी-बोध – अपराधी-चेतना होगी, तब व्यक्ति के पुनरुत्थान की आशा निःशेष हो जायेगी। ऐसी स्थिति में वह अपने आपको पापी, पापकर्मा, पापात्मा और पापसम्भव मान लेगा – **पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः**। पापी चेतना के प्रबल हो जाने पर व्यक्ति आत्मनिन्दा करेगा और आत्मघाती कृत्यों में तल्लीन हो जायेगा। यह उसके पतन की पराकाष्ठा होगी। इस दशा में उसकी उपलब्धियाँ भी अनुपलब्धियों में और सफलताएँ भी असफलताओं में परिवर्तित हो जायेंगी। उसका सम्पूर्ण पौरुष चुक जायेगा।

आपके पास स्वय को सराहने के लिए ईश्वर-प्रदत्त बहुत कुछ है। हो सकता है वह दूसरों के पास न हो। आपका उत्तम स्वास्थ्य, निर्मल एव नीरोग काया और आयुष्य आपके सौभाग्य का सर्वोत्तम विषय है। यदि आप सुन्दर हैं, तो आपका सौन्दर्य ही आपको प्रभु का वरदान है। और फिर प्रभु की दृष्टि में ऐसा कौन है, जिसे उसने कोई-न-कोई गुण न दिया हो। आपमें भी अवश्य ही वे गुण होंगे। सृजनात्मक प्रतिभा अन्तर्निहित होगी। आपका बुद्धिबल तथा पुरुषार्थ ही क्या कम है! जाति, वर्ण, लिंग, धर्म, देश, समाज, इतिहास, सस्कृति, सभ्यता तथा राष्ट्र आपके लिए गौरवास्पद हो सकते हैं। पद, प्रतिष्ठा और कृतियाँ आपकी श्रीवृद्धि में सहायक होंगी। वात्सल्यमयी माता, रक्षण तथा विनयाधान में तत्पर पिता, ममतामयी बहन, राम-लक्ष्मण से अग्रज तथा अनुज, सुन्दर तथा गुणशालिनी पत्नी, चाहनेवाला पति, होनहार आज्ञाकारी तथा मासूम बच्चे, हितकारी मित्र और मंगलकामी कुटुम्बी आपको मिले होंगे। सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है या पुष्कल धन-धान्य आपको मिला है, सिर पर कुटीर की छाया है, जीवन-धारण में सक्षम आजीविका उपलब्ध है, तो फिर आपको कमी ही क्या है? यदि इनमें से कुछ भी आपको नहीं मिला, तो खुला आकाश तो आपको मिला है, पृथ्वी माता का मुक्त अचल, निरन्तर प्रवहमान वायु और शीतल जल तो सरलता से उपलब्ध है! प्रकृति के द्वार आपके लिए खुले हैं। उन्मुक्त हाथों से वह आपको दान देने में लगी है। हरे-भरे वृक्ष शीतल छाया और फलों के उपहार-वितरण में सलग्न हैं। झर-झर करते झरने और कल-कल निनाद के साथ नदियाँ प्रवाहित है, सिंह की गर्जना करता समुद्र आलोड़ित है, उन्नत ललाट और प्रफुल्लित वक्षस्थल वाला पर्वतराज हिमालय खड़ा है, समस्त ब्रह्माण्ड का आलोकित करने के संकल्प में आबद्ध सूर्य अन्तरिक्ष में स्थित है, चन्द्रिका की मधु स्मिति की रेखाओं को बिखेरता नील परिधान में चन्द्र और टिमटिमाता नक्षत्र-मण्डल आपके ऊपर है। दो बलिष्ठ भुजाएँ आपको प्राप्त हैं और मानवीय संवेदनाओं को महसूस करनेवाला हृदय आपकी धरोहर है। फिर भी यदि आप स्वय को अकिंचन समझते हैं, अपनी उपलब्धियों से असन्तुष्ट हैं और आत्मनिन्दा से ही आप मानसिक शान्ति एव आत्मगौरव की अनुभूति करते हों, तो यह आपकी भयानक भूल है और इसे दुहराना सर्वथा अनुचित है। ❑ ❑ ❑

अथर्ववेद का स्वरूप और विस्तार

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

वेदोक्त यज्ञविधि में ऋग्वेदी होता, यजुर्वेदी अध्वर्यु, सामवेदी उद्‌गाता के अतिरिक्त ब्रह्मा नामक एक चौथा ऋत्विक् रहता है। यह ब्रह्मा चारों वेदों का विशेषज्ञ हो, ऐसी अपेक्षा होती है। अत: वह अथर्ववेद का भी विशेषज्ञ रहता है। ऋक्, यजुस् और साम इस वेदत्रयी से अथर्ववेद का स्थान अलग है। तथापि वैदिको के कर्मकाण्ड मे अथर्ववेद का स्थान त्रयी के समान महत्त्वपूर्ण रहता है। वैदिक वाङ्मय के अनुक्रम में सर्वत्र ऋग्वेद को प्रथम और अथर्ववेद को चतुर्थ स्थान दिया जाता है, परन्तु स्वयं ऋग्वेद में अथर्ववेद को प्रथम स्थान दिया गया है – **यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते (ऋग्वेद १.८३.५)**। ऋग्वेद के उपरोक्त वचन से यह भी सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा को अथर्ववेद का ज्ञान था। अर्थात् इस वचन के आधार पर उन आधुनिक विद्वानों का भी खण्डन होता है, जो ऋग्वेद को प्राचीन और अथर्ववेद को अर्वाचीन मानते है।

अथर्ववेद का सम्पूर्ण नाम है – अथर्वाङ्गिरस। यज्ञविधि में ब्रह्मा नामक ऋत्विक् इस वेद के मंत्रों का प्रयोग करता है। अत: इसे 'ब्रह्मवेद' भी कहते है।

गोपथ ब्राह्मण (१-४) में अथर्वण और अङ्गिरस (जिनके नामों पर इस चतुर्थ वेद का नामकरण हुआ) के उत्पत्ति की एक कथा आती है। तदनुसार, सृष्टि की उत्पत्ति के लिये ब्रह्माजी ने जब घोर तपश्चर्या की, तब उनके शरीर से दो धर्म-प्रवाह बहने लगे। उनके एक प्रवाह से भृगु ऋषि का निर्माण हुआ, जिन्हें अथर्वण नाम प्राप्त हुआ और दूसरे प्रवाह से अंगिरा नामक ऋषि की उत्पत्ति हुई। इन दो ऋषियो द्वारा प्रवर्तित मंत्रराशि को ही 'अथर्वाङ्गिरस' संज्ञा प्राप्त हुई।

दूसरी उत्पत्ति के अनुसार सृष्टि के आरम्भ काल में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा – इन चार ऋषियों के अन्त:करण में सम्पूर्ण वेदराशि का स्फुरण हुआ। इनमें से अंगिरा ऋषि का नाम अथर्वाङ्गिरस वेद के नाम में पाया जाता है।

तीसरी उत्पत्ति के अनुसार अथर्वा और अङ्गिरस नाम के दो ऋषि थे, जिन्हे अभिचार मंत्रों का विशेष ज्ञान था। अथर्वा ऋषि रोगनाशक मंत्रो के और अङ्गिरस ऋषि शत्रुनाशक मंत्रों के ज्ञाता थे। इस प्रकार के आभिचारक मंत्रों का प्राधान्य, अथर्वाङ्गिरस की विशेषता मानी जाती है।

आयुर्वेद का मूल

अथर्ववेद में दो प्रकार के मंत्र हैं – (१) रोग, हिंस्रपशु, पिशाच, मंत्र प्रयोग करनेवाले शत्रु इत्यादि के विरोध अथवा विनाश करने में उपयोगी और (२) परिवार म, गाँव में तथा इतरत्र शान्ति स्थापित करने में, शत्रुओं से सख्य करने में, जीवन में दीर्घायु, आरोग्य तथा धन-समृद्धि प्राप्त करने में तथा प्रवास में संरक्षण मिलने में उपयोगी। अर्थात् अथर्ववेद के कुछ मंत्र विनाशक और कुछ विधायक स्वरूप के हैं। भारतीय आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में ही मिलता है। ज्वर, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, खाँसी, गंजापन, दृष्टिक्षय, शक्तिक्षय, सर्पबाधा, व्रण, बुद्धिभ्रंश – इस प्रकार की व्याधियों का उपचार करनेवाले मंत्र इस वेद में होने के कारण आयुर्वेद का मौलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करनेवालो के लिये अथर्ववेद का अध्ययन उपयोगी होता है। उसी प्रकार धर्मशास्त्र के (विशेषत: गृह्यसूत्रों के) पुत्रजन्म, विवाह, राज्याभिषेक, मृत्यु आदि विषयो से भी इस वेद के कई सूक्तो का सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देता है।

अथर्ववेद का विस्तार

अथर्ववेद की संहिता के २० काण्ड हैं, जिनमे ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त और ५८४९ मंत्र हैं। उनमे से करीब १२०० मंत्र ऋग्वेद में मिलते हैं। प्रारम्भिक १३ काण्डों का विषय जारण, मारण, उच्चाटन से सम्बन्धित है। १४वें काण्ड में विवाह, १८वे काण्ड मे श्राद्ध और २०वें काण्ड में सोमयाग विषयों के मंत्र हैं। इस वेद का षष्ठांश भाग गद्यात्मक है। आधुनिक अन्वेषक मानते हैं कि १९वाँ और २०वाँ काण्ड इस संहिता मे बाद में जोड़ा गया, क्योंकि २०वें काण्ड में केवल ऋग्वेद की ही ऋचाएँ हैं। अथर्ववेद में प्राप्त ऋग्वेदीय ऋचाओं में से ५०% ऋचाएँ दशम मण्डल में मिलती है और बाकी प्रथम तथा अष्टम मण्डल में मिलती हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदत्रयी के अनेक मंत्र आथर्वण संहिता में उपलब्ध होने के कारण उसे त्रयी का सार या मूल मानते हैं।

पतंजलि ने अथर्ववेद की नौ शाखाओ का निर्देश किया है – **नवधा आथर्वणो वेदः**। परन्तु आज उसकी पैप्पलाद और शौनक नामक दो ही शाखाएँ सायण-भाष्य सहित प्राप्त होती हैं। पैप्पलाद शाखा की पाण्डुलिपि सबसे पहले प्रो. बूल्हर ने खोजी। आगे चलकर ब्लूमफील्ड ने उसका छायांकन कर प्रकाशन किया। सन् १८७० में कश्मीरनरेश रणवीर सिह को पैप्पलाद शाखा की एक प्रति उनके ग्रन्थ-संग्रहालय में मिली। वह भूर्जपत्र पर शारदा लिपि में लिखी थी। उन्होने वह प्रति डॉ. राथ को उपहार के रूप मे समर्पित की। राथ की मृत्यु के बाद वह ट्यूबिजन विश्वविद्यालय को प्राप्त हुई। उसके अधिकारियों ने सन् १९०१ मे अमेरिका मे उसका प्रकाशन किया।

अथर्व की शौनक शाखा का (सायण भाष्य सहित) संस्करण, सम्पादन और प्रकाशन सन् १८५६ मे रॉथ और ह्विटनी

नामक दो पाश्चात्य विद्वानों ने किया। ग्रिफिथ ने अथर्ववेद का पद्यानुवाद प्रकाशित किया, जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने वेद-विषयक काफी जानकारी दी है।

आथर्वण वाङ्मय

अथर्ववेद से संबन्धित अवान्तर साहित्य में गोपथ ब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण-आरण्यक, वैतान श्रौतसूत्र, कौशिक्य गृह्य-सूत्र, खादिर गृह्यसूत्र, पैठीनसी धर्मसूत्र और श्री शंकराचार्य के मतानुसार प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तथा नृसिंहतापिनी – इन चार उपनिषदो का अन्तर्भाव होता है। प्रश्नोपनिषद् पैप्पलाद-शाखीय और मुण्डक-माण्डूक्य शौनक-शाखीय है। मुक्तिकोपनिषद् में १३ अथर्वण उपनिषदों के नाम दिये गये हैं। उनके अतिरिक्त कौषीतकी गृह्यसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, दैवत संहिता, दैवत षड्विश ब्राह्मण, द्राह्यायण गृह्य सूत्रवृत्ति इत्यादि ग्रन्थ-सम्पदा आथर्वण वाङ्मय में अन्तर्भूत होती हैं।

अथर्ववेदी परम्परा

अथर्ववेद की १४ शाखा-उपशाखाओं में पैप्पलाद और शौनक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त चारणविद्या नामक शाखा के चार भेद माने गये हैं। नरहरि व्यंकटेश शास्त्री कृत **चतुर्वेद-शाखा-निर्णय** नामक ग्रन्थ में वेदो की शाखाओ एवं उपशाखाओं के विषय म विस्तृत वर्णन किया गया है।

वेद-विस्तार

मत्स्यपुराण में कहा है – **एक आसीत् यजुर्वेदः** – यानी प्रारम्भ मे केवल एकमात्र यजुर्वेद था। वायु और विष्णु पुराण में भी यही कहा है। भगवान व्यास ने यज्ञविधि की व्यवस्था के अनुसार चार संहिताएँ तैयार की और पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद और सुमन्तु को अथर्ववेद की संहिता पढ़ाकर उन्हें अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा वेद का सर्वत्र प्रचार करने का आदेश दिया।

विविध प्रकार के विधि-विधानों की ठीक व्यवस्था के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण भी भगवान वेदव्यास ने ही किया। उनके द्वारा जिस शिष्य-परम्परा का विस्तार हुआ, उनके कारण वेदों की अनेक शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन अनेक पुराणों में तथा भागवत और महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ३४२) में मिलता है। तथापि इस वेद-विस्तार की व्यवस्थित जानकारी के लिये चरणव्यूह नामक तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं – (१) **शौनक कृत** – इस पर काशी निवासी महीदास ने सन् १५५६ में भाष्य लिखा। (२) **कात्यायन कृत** – इस पर योगेश्वर उपनाम के त्रयम्बक शास्त्री नामक विद्वान् ने १७वीं शताब्दी में टीका लिखी। (३) **व्यास कृत**।

दशग्रन्थी विद्वान्

प्राचीन परम्परा के अनुसार वैदिक वाङ्मय के अध्येताओं में 'दशग्रन्थी' विद्वान् को बड़ी मान्यता थी। जिस वैदिक छात्र ने निम्नलिखित दस ग्रन्थों का पाङ्क्त अध्ययन किया हो, उसे दशग्रन्थी विद्वान् कहते हैं – (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) पदक्रम (४) आरण्यक (५) शिक्षा (६) छन्द (७) ज्योतिष (८) निघंटु (९) निरुक्त (१०) अष्टाध्यायी। ❑

(पृष्ठ ३५० का शेषांश)

सम्पाती बोले – हम पता बता देंगे, पर साधना तुम्हें ही करनी होगी –

बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार ।। ५/२८

रोग की दवा होती है, वैद्य दवा देगा, पर रोगी यदि कहे कि हमें दवा अच्छी नहीं लगती, हम दवा नहीं खायेंगे, तब ऐसी स्थिति में वैद्य क्या करेगा? अत: व्यक्ति के जीवन में यदि पार्वती जी के समान सचमुच स्वस्थ होने की वृत्ति हो, तभी व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है। आगे चलकर पार्वती जी शंकर जी से भगवान की भक्तिमयी कथा सुनती हैं और –

तब रह राम भगति उर छाई ।। ७/१२२/११

उनके जीवन में विमल ज्ञान का, दिव्य पवित्रता का उदय होता है और वे राम-कथा के द्वारा स्वस्थ हो जाती हैं। इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि आज भी यदि हम इन माध्यमों के द्वारा पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो पा रहे हैं, तो हमें इस प्रसंग से मिलाकर देखना चाहिये कि हमसे कहाँ भूल हो रही है –

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा ।
संजम यह न बिषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनुपान श्रद्धा मति पूरी ।। ७/१२२/६-७

इन सबका जब ठीक-ठीक पालन होता है, तब कागभुशुण्डि जी आश्वासन देते हैं कि –

एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं ।
नाहीं त जतन कोटि नहिं जाहीं ।। ७/१२२/८

ऐसा जब होगा, तब ये मनोरोग नष्ट होंगे; नहीं तो इन रोगों को नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। रोग है और उसकी चिकित्सा है, तो भी यदि हम स्वस्थ नहीं हो पा रहे हैं, तो इसका कारण यही है कि हमारे जीवन में चिकित्सा का कोई-न-कोई अंग अधूरा है। अत: हमें चाहिए कि रामायण के इन सूत्रों के आधार पर अपनी कमियों को मिलाकर देखें कि हम क्यों स्वस्थ नहीं हो पा रहे हैं, चिकित्सा के उन सूत्रों को समझकर रोगों को सच्चे अर्थों में दूर करने की चेष्टा करें।

❖ (समाप्त) ❖

इंडोनेशिया के हिन्दू

इडोनेशिया या हिन्देशिया हिन्दू महासागर में स्थित टापुओं का एक देश है। १८ करोड़ की आबादी वाला यह देश मुस्लिम-बहुल है, परन्तु इसके वाली नामक द्वीप में ३० लाख से भी अधिक हिन्दू बसते हैं। और इनके बारे में मार्के की बात यह है कि य भारतीत मूल के नहीं, बल्कि इडोनेशियाई मूल के ही हैं।

स्थानीय लोगों का विश्वास है कि वहाँ हिन्दू धर्म लगभग दो हजार वर्ष पूर्व मार्कण्डेय ऋषि के द्वारा लाया गया था। यहाँ के बाली तथा अन्य द्वीपों के हिन्दुओं की वैसे तो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - तीनों में श्रद्धा है, तथापि उनमें से अधिकांश शिव को ही परम देवता मानते हैं। दैनिक हिन्दुस्तान में छपे एक समाचार के अनुसार इंडोनेशिया में लगभग ११,००० हिन्दू मन्दिर हैं, जिनमें से अधिकाश बाली द्वीप में हैं। पर्व तथा उत्सवों के अवसर पर इनमें हजारों लोग एकत्र होते हैं। वहाँ के प्रत्येक छात्र को प्राथमिक से लेकर माध्यमिक स्तर तक उसके धर्म की शिक्षा देने की व्यवस्था है। बाली द्वीप का हर हिन्दू त्रिसंध्या और गायत्री जानता है और उसका अनुष्ठान करता है। वहाँ हिन्दुओं की कोई भी बैठक आसन-प्राणायाम से शुरू होती है। उनकी अपने धर्म में न केवल निष्ठा, अपितु पर्याप्त उत्साह भी है। वहाँ हर हिन्दू देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण से मुक्त होने के लिए काफी दान-पुण्य भी करता है।

इस मुस्लिम-बहुल होने के बावजूद यह एक उदारवादी देश हैं, जहाँ हर धर्म के अनुयाइयों को अपनी उपासना की पूरी स्वाधीनता है। रामायण तथा महाभारत इंडोनेशिया में काफी लोकप्रिय हैं और बाली द्वीप में तो उन पर आधारित नृत्य-नाटिका वहाँ का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य है। बाली द्वीप की इस सांस्कृतिक विविधता के कारण वहाँ सारी दुनिया से काफी संख्या में पर्यटक आते हैं, जिसके फलस्वरूप वहाँ की प्रति व्यक्ति आय इंडोनेशिया में सर्वाधिक है।

तालाब की खुदाई में मूर्तियाँ मिलीं

मध्यप्रदेश में पड़े भयानक सूखे के कारण गाँवों के लोगों ने सरकार की सहायता से अनेक सूख रहे तालाबों की सफाई करके उन्हें गहरा करने का प्रयास किया। इसी प्रयास में कहीं कहीं अमोल पुरातात्विक सम्पदा भी निकल आयी है।

भोपाल से लगभग ३० कीलोमीटर दूर गुनगा/बेरसिया मार्ग पर स्थित खेड़ी-नामदारपुर गाँव में ऐसा ही हुआ। वहाँ के ५२ एकड़ भूमि में फैले तालाब में लगभग हजार वर्षो से बहुत-सी पुरातात्त्विक सामग्री दबी पड़ी है, इसका उन्हें गुमान तक न था।

इस बार यह तालाब पहली बार पूरी तौर से सूख गया था। प्रदेश सरकार ने उक्त तालाब की सफाई के लिए कुटकीपारा ग्राम-पचायत को १ लाख १७ हजार रुपये जारी किये थे। पिछली २३ अप्रैल के दिन दोपहर में झुलसा देनेवाले गर्मी के बीच उपरोक्त दोनों गाँवों के १००-१२५ लोग इस पूरी तौर से सूखे हुए तालाब को खोदने के कार्य में लगे हुए थे। उनकी सहायता के लिए एक बुलडोजर भी उपस्थित था और तालाब से निकली हुई उपजाऊ मिट्टी को अपने खेतों में ले जाने के लिए कई लोगों ने अपने ट्रैक्टर-ट्राली भी लाकर लगा दिये थे।

दोपहर को डेढ़ बजे तालाब के ऊपरी मेड़ से खुदाई शुरू होने के आधे घण्टे बाद कोई तीन फुट नीचे पहुँचने पर घाट के जैसी सीढियाँ एव उन पर रखी देवी-देवताओं की आकर्षक मूर्तियाँ दिखाई देने लगीं। खेड़ी गाँव का एक अस्सी वर्षीय वृद्ध व्यक्ति कह उठा, "हम ही नहीं, हमारे बाप-दादे भी यही समझते रहे कि तालाब का यह हिस्सा पत्थरों का एक टीला भर है।"

इस तालाब की नम मिट्टी के भीतर से ९वीं से १२वीं सदी के दौरान बनी प्रतिहार तथा परमार काल की बनी ब्रह्मा, विष्णु, शिव तता नृत्यमग्न अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि झुके हुए खम्भों तथा उन पर ढाली गयी छतों को देखकर लगता है कि वहाँ कोई विशाल इमारत बन रही थी, जिसे युद्ध, अकाल, अर्थाभाव या किसी अन्य कारण से बीच में ही छोड़ देना पड़ा था।

शिव मन्दिर की प्रतिष्ठा

छतीसगढ़ के ही धमतरी जिले में स्थित ग्राम करेली में श्रीयुत ईश्वर चन्द्र साहू के प्रयत्नों द्वारा नवनिर्मित शिव-मन्दिर में विगत २ अप्रैल २००१ ई. के दिन रामनवमी के पावन अवसर पर प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रमुख स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज तथा अनेक साधु-ब्रह्मचारी, आश्रम-छात्रावास के अनेक विद्यार्थी तथा स्थानीय भक्तवृन्द उपस्थित थे। आश्रम के विद्यार्थियों ने 'शिवनाम-सकीर्तन' का गायन भी किया। इस अवसर पर आयोजित सभा में स्वामीजी ने 'शिव-महिमा' पर प्रकाश डालते हुए बताया कि भगवान शिव की पूजा करना अत्यन्त सरल है। वे साधारण बिल्वपत्र, पुष्प आदि से ही प्रसन्न हो जाते हैं। सभी बाल, युवा, वृद्ध नर-नारियों को उनकी पूजा करनी चाहिए। सच्ची भक्ति के साथ 'ॐ नमः शिवाय' कहकर प्रार्थना करने से वे हमारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण कर देते हैं।
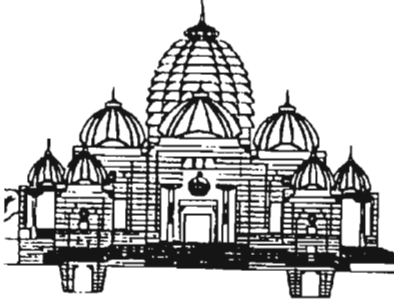
फोन : ४३३५१३२

रामकृष्ण मठ
१३१/१ए, विट्ठलवाड़ी रोड़,
पुणे - ४११ ०३०

भगवान श्रीरामकृष्णदेव का सार्वभौमिक मन्दिर

हार्दिक अपील

प्रिय मित्रो,

हमारे पुणे के मठ में निर्माणाधीन सार्वभौमिक मन्दिर के विषय में आप अवश्य ही अवगत होंगे। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ उप-महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज के हाथों १९९८ ई. की रामनवमी के दिन समारोहपूर्वक इसकी आधारशिला रखी गयी।

हमें यह सूचित करते हुए आनन्द हो रहा है कि नवम्बर १९९९ से इसका वास्तविक निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ और दिसम्बर तक इसके लिए आवश्यक खुदाई आदि का कार्य पूरा हो चुका था। आगे का कार्य भी अब पूर्ण गति से चल रहा है और हमें आशा है कि आगामी दो वर्षों में मन्दिर बनकर पूरा हो जायेगा। इस परियोजना की अनुमानित लागत लगभग रु. ३ करोड़ होगी।

मन्दिर के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्य इस प्रकार हैं -

मन्दिर का कुल आयतन	१३५ x ९३ x ८१ फीट
गर्भगृह	२४ x १७ x २१ फीट
अष्टभुजाकार प्रार्थनागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १४ से २६ फीट तक
तलघर में सभागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १२ से १४ फीट तक

हमारा हार्दिक अनुरोध है कि आप भी उदारतापूर्वक दान देकर इस पुनीत कार्य को यथाशीघ्र पूंरा करने में सहयोग करें।

आपके शीघ्र उत्तर की आशा तथा शुभ कामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में
स्वामी भौमानन्द
अध्यक्ष

चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, पुणे' के नाम से बनाकर हमारे पते पर भेजे जाने पर हम उसे सधन्यवाद स्वीकार करेंगे।
विशेष सूचना : हमारा मठ विदेशी मुद्रा में भी दान स्वीकार करने हेतु भारत सरकार द्वारा पजीकृत है।